श्री गुरुगीता

अर्थ एवं व्याख्या

स्वामी शिवोम्‌तीर्थ

श्री गुरुगीता

अर्थ एवं व्याख्या

स्वामी शिवोम्‌तीर्थ

देवात्म शक्ति सोसायटी

९२-९६, नवाली गाँव, पोस्ट दहिसर (व्हाया मुम्ब्रा)

ज़िला ठाणे - ४०० ६१२ (महाराष्ट्र)

श्री गुरुगीता

अर्थ एवं व्याख्या सहित

@ प्रकाशक के साथ

प्रथम संस्करण
द्वितीय संस्करण
२७.०३.०७

किंमत 30 रुपये
(टपाल खर्चा अधिक)

मुखपृष्ठ सजावट :
गणेश कडूसकर - सुहास पंधे

प्रकाशक
देवात्म शक्ति सोसायटी (आश्रम)
९२-९६, नवाली गाँव, पोस्ट दहिसर (व्हाया मुम्ब्रा)
जिला ठाणे (महाराष्ट्र)

मुद्रक
सन्मान ॲण्ड कंपनी,
११३, शिवशक्ति इंडस्ट्रियल इस्टेट,
अंधेरी-कुर्ला रोड, मरोळ नाका,
अंधेरी - ४०० ०५९.
फोन : २८५०११३७

— प्रकाशकीय —

यह अत्यंत हर्ष की बात है कि परम पूज्य श्री सद्गुरु स्वामी शिवोमृतीर्थ महाराज जी द्वारा अर्थ और व्याख्या सह लिखित श्री गुरूगीता के प्रथम संस्करण की अपार सफलता के बाद देवात्म शक्ति सोसायटी, मुंबई इस ग्रंथ का दूसरा संस्करण आज **रामनवमी** के पावन पर्व पर प्रकाशित कर रही है। श्री गुरूगीता का प्रथम संस्करण हमने जुलाई १९९० में **गुरु-पूर्णिमा** के अवसर पर प्रकाशित किया था। जुलाई १९९४ में इस पुस्तक का मराठी संस्करण प्रकाशित किया गया जिसे हमारे सभी मराठी साधकों ने हाथों हाथ लिया। इस वर्ष प.पू. स्वामी शिवोमतीर्थ महाराज जी के जन्म दिवस के शुभ अवसर पर इस पुस्तक के अमरीका में प्रकाशित किए गए अंग्रेजी संस्करण की छपाई करवाने का प्रयास भी हमारे अंग्रेजी पाठकों द्वारा अत्यंत सराहा गया।

श्री गुरुगीता, सद्गुरू की महिमा का गान करने वाला महान् स्तोत्र है। यह स्तोत्र स्कंद पुराणान्तर्गत ब्रह्मखंड में आया है। वैसे तो अब तक इस स्तोत्र पर अनेक भाषाओं में अनेक पुस्तकें प्रकाशित की जा चुकी हैं परंतु देवात्म शक्ति सोसायटी, मुंबई द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक की विशेषता यह है कि इस में प.पू. स्वामी शिवोम् तीर्थ महाराज जी ने न केवल हिंदी में श्लोकों का अर्थ और अनुवाद किया है बल्कि उससे अधिक महत्त्व की बात यह है कि उन श्लोकों पर उन्होंने अपनी अनुभव संपन्न टीका कर जनसमुदाय पर बडी कृपा की है। शक्तिपात प्रणाली के आधार पर महाराज जी ने इन श्लोकों पर अनोखा प्रकाश डाला है। केवल बौध्दिक चर्चा न करते हुए उन्होंने इस महान स्तोत्र पर अपने सुस्पष्ट विचार, मूलगामी विवेचन और अतिबोधप्रद विवरण देकर ग्रंथ को सोद्देश्य बना दिया है।

ज्ञातव्य है कि अध्यात्म के मार्ग पर चलने वाले सभी संप्रदाय, धर्म, परम्परा के साधक, शिष्य, जिज्ञासू एवं मुमुक्षुओं को श्री सद्गुरु की प्राप्ति होना एक महत् भाग्य है। भगवद् कृपा से सद्गुरु प्राप्त होत हैं और सद्गुरू की कृपा से भगवान् प्राप्त होते हैं वास्तव में सदगुरू और ईश्वर दो नहीं होते। गुरू कोई व्यक्ति नहीं होत, वे शक्ति होते है। सद्गुरु में ईश्वरी शक्ति जाग्रत रहती है और उसी शक्ति को वे शिष्य की देह मेंसंचारित करके उसकी भी शक्ति जाग्रत और क्रियाशील बना देते हैं।

व्यक्ति चाहे विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य, देवी-देवता, किसी का भी भक्त हो,

जब वह अपने इष्ट की पूजा करता है, तब वह उस इष्ट की शक्ति का ही पूजन होता है। शक्ति और शक्तिमान एक दूसरे से अभिन्न हैं। बिना शक्ति से तो शिव भी शिवत्व धारण नहीं कर सकते। गुरु की शक्ति ही गुरू-तत्व का निर्माण करती है। गुरू की पूजा या भक्ति ही उसकी शक्ति की पूजा या भक्ति होती है। जैसे किसी व्यक्ति की भगवान् में परा भक्ति (सर्वश्रेष्ठ भक्ति) होती है, वैसी ही भक्ति अगर उसकी अपने गुरू में हो तो गुरू द्वारा उस भक्त को कहे गए सभी रहस्य भक्त के भीतर अपने आप प्रकट या प्रकाशित हो जाते है। इस दृष्टी से देखने पर सद्गुरू और ईश्वर समान होते है; उनमें कोई भेद नहीं होता।

हम आशा करते है कि साधक गण इस पवित्र ग्रंथ से मिलने वाले ज्ञान से लाभान्वित होंगें।

टी. कालीदास
अध्यक्ष
२७.०३.०७

देवात्म शक्ति सोसायटी,
९२-९६, नवाली गाँव, पोस्ट दहिसर (मुंब्रा से)
जिला ठाणे, महाराष्ट्र (भारत)
पिन - ४०० ६१२.

— प्रकाशकीय —

प.पू. श्री सद्गुरु स्वामी शिवोम्तीर्थ महाराजजी द्वारा अर्थ और व्याख्या सह लिखित 'श्री गुरु-गीता' ग्रंथ का प्रकाशन, देवात्म शक्ति सोसायटी, बम्बई, इस **गुरु-पौर्णिमा** के पावन पर्व पर कर रही है, यह बड़ी आनंद की बात है। श्रीगुरु-गीता सद्गुरु की महिमा का गान करनेवाला महान् स्तोत्र हैं। यह स्तोत्र स्कंद पुराणान्तर्गत ब्रह्मखंड में आया है। इस स्तोत्र पर अनेक भाषाओं में अनेक पुस्तकें प्रकाशित की जा चुकी हैं। जैसी श्रीरामकृष्ण मिशन मद्रास की तमिल में, श्रीशिवानन्द आश्रम ऋषिकेश की अंग्रेजी में, श्री संत आसाराम जी आश्रम, अहमदाबाद की हिन्दी और अंग्रेजी में, श्री स्वामी मुक्तानंदजी, गणेशपुरी आश्रम की मराठी में और श्री केशव भिकाजी ढवले-प्रकाशन मुंबई की मराठी में, ये इनमें से कुछ हैं।

देवात्म शक्ति सोसायटी, बम्बई द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक की विशेषता यह है कि, इस पर प.पू. श्री स्वामी शिवोम् तीर्थ महाराजजी ने हिन्दी में श्री गुरु-गीता के श्लोकों का अर्थ या अनुवाद तो दिया ही है, उससे अधिक महत्त्व की बात यह है कि, उन श्लोकों पर अपनी व्याख्या या टीका लिखी है। शक्तिपात प्रणाली के आधार पर महाराज श्री ने उन पर अनोखा प्रकाश डाला है। केवल बौद्धिक चर्चा न करते हुए उन्होंने अपने अनुभव सम्पन्न विचार, मूलगामी विवेचन, सुस्पष्ट और अतिबोधप्रद विवरण देकर ग्रंथ को प्रत्ययकारी सिद्ध किया है। हम आशा करते हैं कि साधक गण इस पुस्तक निर्मिति से अधिक लाभान्वित होगा।

अध्यात्म के मार्ग पर चलनेवाले सभी संप्रदाय, धर्म, परम्परा के साधक, शिष्य, जिज्ञासू एवं मुमुक्षुओं को श्री सद्गुरु की प्राप्ति होना महत् भाग्य है। भगवद् कृपा से सद्गुरु प्राप्त होते हैं और सद्गुरु कृपा से भगवान् प्राप्त होते हैं। वास्तव में सद्गुरु और ईश्वर दो नहीं होते। गुरु कोई व्यक्ति नहीं होते, वे शक्ति होते हैं। सद्गुरु में वह ईश्वरी शक्ति जागृत रहती है और वही शक्ति को वे शिष्य के देह में संचारित करके, उसकी भी शक्ति जागृत और क्रियाशील बना देते हैं।

व्यक्ति चाहे विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य, देवी-देवता, किसी का भी भक्त हो, जब वह अपने इष्ट की पूजा करता है, तब उस इष्ट की शक्ति का ही पूजन होता है। शक्ति और शक्तिमान् अभिन्न होते हैं। बिना शक्ति से तो शिव भी शिवत्व धारण नहीं कर सकते। गुरु की शक्ति गुरुत्व निर्माण करती है। गुरु की पूजा या भक्ति ही उसकी शक्ति की पूजा या भक्ति होती है। उसके सम्बन्ध में कहा जाता है—

यस्य देवे परा भक्ति, र्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः, प्रकाशन्ते महात्मनः ।।

जिसकी भगवान् में परा भक्ति (सर्वश्रेष्ठ भक्ति) होती है, जैसी भगवान में वैसी ही भक्ति अगर अपने गुरु में हो, तो उस भक्त-महात्मा को कहे गये सभी रहस्य अपने आप प्रकट या प्रकाशित हो जाते हैं।

इस दृष्टि से देखने पर सद्गुरु और ईश्वर समान हो जाते हैं। उनमें तत्त्व दृष्टि से कोई भेद नहीं है। गुरुतत्त्व ही ईश्वरतत्त्व हैं। श्रीगुरु-गीता में गुरु-तत्त्व का ही यत्र तत्र सर्वत्र गुणगान किया गया है।

प.पू. श्री सद्गुरु महाराजजी ने इस ग्रंथ की अर्थ सहित व्याख्या १२ दिसंबर १९८८ को लिखकर पूर्ण की थी। दुर्भाग्य की बात यह रही है कि इतना महत्त्वपूर्ण और उपयुक्त ग्रंथ दो वर्ष तक द्रव्याभाव के कारण हम प्रकाशित नहीं कर पाये। यह एक बड़ी संतोष और आनंद की बात है कि, हमारे एक साधक बंधु श्री. एम्.व्ही. जोशीजी (डोंबिवली) ने बड़ी उदारता से ग्रंथ छपाई का पूरा खर्च देकर, भार वहन किया है। इसके साथ ही बड़ोदरा के श्री अश्विन भाई पटेलजी ने भी इस कार्य के लिए दो हजार रुपये की सहायता दी है। इस ग्रंथ की छपाई, तथा मुद्रण का काम अल्प समय में कोनम प्रिन्टर्स, बम्बई ने बहुत अच्छा कर दिया है। मुख पृष्ठ और अन्य सजावट श्री जी. कडूसकर और श्री सुहासजी ने बहुत सुंदर करा दी है। उपरोक्त सभी सज्जनों के देवात्म शक्ति सोसायटी, बम्बई, ऋण मानती है। हम उनके बहुत उपकृत हैं।

टी. कालिदास अध्यक्ष,
प्रकाशक :-
देवात्म शक्ति सोसायटी, बम्बई.
दिनांक ४ मार्च २००७

— प्रस्तावना —

देवात्म शक्ति सोसायटी, बम्बई द्वारा प्रकाशित **'श्रीगुरु-स्तवन'** पुस्तिका में, गुरुभक्तों के लिए, श्रीगुरु-गीता का केवल मूलपाठ ही दिया गया था। नित्यपाठ से श्लोक तो पाठान्तरित हो जाते हैं, फिरभी उनके अर्थ एवं गूढार्थ समझ में न आने से, समाधान नहीं होता। सांधक तथा गुरु-भक्तों की अनेक दिनों से यह माँग थी कि हमें श्रीगुरु-गीता की सार्थ और टीका सहित पुस्तक उपलब्ध होनी चाहिये। उसे ध्यान में रखते हुए, यह सार्थ और व्याख्या सहित पुस्तक प्रस्तुत की जा रहीं है।

श्रीगुरु-गीता' स्कंद पुराणान्तर्गत, श्रीगुरु-महिमा का वर्णन करनेवाला मंत्रमय स्तोत्र है। उसे मंत्रराज— मंत्रों में राजा— कहा गया है। शिव-पार्वती संवाद रूप इस लघुकाय स्तोत्र में श्रीगुरु-तत्त्व, गुरु-महिमा, गुरुभक्ति, गुरुसेवा और गुरु-शिष्य संबंध पर विशेष प्रकाश डाला गया है। श्रीगुरु-गीता का प्रारंभ हिमालय के रम्य कैलास शिखर पर होता है। 'भक्ति-संधान नायक' श्री भगवान शंकरजी को भगवती पार्वती सादर प्रणाम करके प्रश्न करती हैं। इससे यह सूचित किया जाता है कि भगवान शिव एक अत्युच्च आंध्यात्मिक स्थिति में अवस्थित हैं और देवी उन्हें, देवदेवेश, परात्पर, ज़गत्गुरु, सदाशिव और महादेव नामो से संबोधित करते हुए गुरु-दीक्षा की प्रार्थना करती हैं। शक्ति सम्पन्न गुरु की कृपा ही दीक्षा-तत्त्व है —

दीयते शिव सायुज्यं क्षीयते पाशबन्धनम्।
अतो दीक्षेति कथिता बुधैः सच्छास्त्रवेदिभिः।।

जिसके द्वारा शिव से सायुज्य अर्थात् तादात्म्य प्राप्त होता है और पाश बन्धनों का क्षय होता है, उसे वेदादि, सत् शास्त्रों के ज्ञानीजन दीक्षा कहते हैं। इस दृष्टि से देखने पर देवी को वह शिव-सायुज्य नित्य ही प्राप्त है और उसे न कोई पाश बन्धन है। दीक्षा रहस्य तो देवी स्वयं भी जानती हैं। देवी तो साक्षात् ज्ञानवती शिव की शक्ति ही है फिरभी लोगों पर उपकार करने हेतु भगवान से प्रश्न पूछती हैं —

केन मार्गेण भो स्वामिन्, देही ब्रह्ममयो भवेत्।
त्वं कृपां कुरु मे स्वामिन्, नमामि चरणौ तव।। २।।

इस श्लोक के प्रथम चरण में देवी प्रश्न करती और दूसरे चरण में गुरु-कृपा की प्रार्थना करती हुई भगवान् के चरणों में वंदना करती हैं। वास्तव में देवी तो उनका ही स्वरूप हैं। स्वयं भगवान् भी कहते हैं— **'ममरूपासि देवी त्वम् !'** भगवान् शिव की शक्ति उनसे अलग नहीं है। तत्त्व की दृष्टि से शिव-शक्ति में कोई भी भिन्नता नहीं होती। शक्ति तो शक्तिमान् से अलग नहीं होती। देवी के लिए, वास्तविक दीक्षा की कोई आवश्यकता नहीं है, फिरभी संसारी जीवों के लिए यहाँ शिव और शक्ति ने गुरु-शिष्य के रूप में एक आदर्श स्थापित करके, लोकोपकार ही किया है। देवी के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् शंकर कहते हैं—

'गुरुं विना ब्रह्म नान्यत्, सत्यं सत्यं वरानने।'

अर्थात् हे सुंदर मुख धारण करनेवाली देवी (पार्वती) ! गुरु के बिना अन्य कोई ब्रह्म नहीं हैं और यही सत्य है, सत्य है। भगवान् ने दिये हुए इस उत्तर में 'श्रीगुरु-गीता' का पूरा सार भर दिया है। इसीलिए 'श्रीगुरु ही ब्रह्म हैं।' इस कथन को समझना अत्यावश्यक हो जाता है।

'श्रीगुरु ही ब्रह्म हैं।' यह समझने के लिए प्रथम गुरु या सद्गुरु क्या होते हैं, यह जानना आवश्यक है। गुरु कोई देहधारी व्यक्ति नहीं होते, वे तो शक्ति होते हैं। वास्तव में गुरु का शरीर गुरु नहीं होता, अपितु गुरु शरीर में प्रतिष्ठित एवं जागृत ईश्वरीय शक्ति ही गुरु होती है। पातंजल योग दर्शन में सूत्र आता है— **'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।'** वह ईश्वर ही है, जो पूर्व गुरुओं का भी गुरु है। उसकी इस स्थिति में काल का अवच्छेद नहीं होता। अर्थात् ईश्वर भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में गुरुओं का गुरु रहता है। कहने का भाव यह है कि, जिस शरीर में ईश्वरीय शक्ति प्रकट होकर शिष्यों के कल्याण हेतु कार्यरत है वही शक्ति गुरु कही जाती है। शरीर तो शक्ति के प्रकटीकरण का माध्यम मात्र होता है। शिव तत्त्व ही ब्रह्म का रूप है। शक्ति ब्रह्म के अर्थात् शिव-तत्त्व के संकल्प की स्फुरणा का प्रथम स्पंद है। वही चिति-शक्ति है, वही विश्व को धारण करनेवाली अनन्त शेष शक्ति और पिण्डस्थ मूलाधार में सोनेवाली एवं सोयी हुई कुण्डलिनी शक्ति है। वही कुण्डलिनी शक्ति, जगाने से, अर्थात् उसके बहिर्मुखी प्रवाह को अंतर्मुखी क्रियाशील कर देने से, मनुष्य की सब पाशविक वृत्तियों का, संस्कारों का संहार करती हुई शिव-सायुज्य पदवी प्राप्त कर देती है। यही कार्य गुरु-दीक्षा से शीघ्रतापूर्वक सम्पन्न होने से मनुष्य अपने पाश बन्धनों से मुक्त हो जाता है। श्रीगुरु-गीता भी यही कहती है।—

संसार मल नाशार्थं, भवपाश निवृत्तये।
गुरुगीताम्भसि स्नानं, तत्त्वज्ञः कुरुते सदा।। १५७।।

जो तत्त्वज्ञ है, तत्त्व की दृष्टि से गुरु की ओर देखते हैं, अर्थात् गुरु-तत्त्व को जानते हैं, वे संसार के मल नाशार्थ और संसार के पाश (बन्धनों) से निवृत्त होने के लिए, गुरु-गीता रूपी जल में नित्य स्नान करते हैं। भगवान शिव पार्वती को ब्रह्म का स्वरूप समझाते हुए कहते हैं—

अगोचरं तथा अगम्यं, नामरूप विवर्जितम् ।
निःशद्बं तद्विजानीयात्, स्वभावं ब्रह्म पार्वती ।। ११६ ।।

ब्रह्म का स्वभाव या स्वरूप अगोचर, (न दिखाई देनेवाला) अगम्य, जिसे कोई नाम, रूप, (आकार) नहीं है, उसके लिए कोई शब्द नहीं है, यह तूं गुरु से ही जान सकती है। **'गुरु वाक्य स्थितं ब्रह्म, प्राप्यते तत्प्रसादतः ।'** यह निःशब्द ब्रह्म गुरुमुख में अर्थात् गुरु की वाणी में स्थित है और वह उनके कृपा प्रसाद से ही प्राप्त होता है। गुरु के मुख में अथवा वाणी में ब्रह्म किस तरह स्थित होता है और वह उनके कृपा-प्रसाद स्वरूप शिष्य को कैसा प्राप्त होता है, यह भी समझना आवश्यक है। गुरु अपने संकल्प से किसी नाम या मंत्र के माध्यम से शक्ति को प्रसारित कर, शिष्य की चित्तशक्ति के तादात्म्य में आकर, उसकी सोयी हुई कुण्डलिनी शक्ति को अन्तर्मुखी जागृत और क्रियाशीला बना देते हैं। इसी को ही गुरु-दीक्षा एवं गुरु कृपा प्रसाद कहा जाता है। यही भगवती कुण्डलिनी शक्ति, शिष्य एवं साधक को, साधनोपरान्त ब्रह्म-स्थिति में प्रस्थापित या प्रतिष्ठित कर देती है।

'गुरु' शब्द का पहला अक्षर 'गु' अंधःकार या अज्ञान वाचक है और दूसरा अक्षर 'रु' प्रकाश तथा ज्ञान वाचक है। इस प्रकार 'गु' कार माया, तथा माया के सत्त्व, रज, तम गुणों को दर्शित करता है और 'रु' कार इस माया के भ्रम को नष्ट करके, ब्रह्मस्वरूप को दर्शित करता है। 'गुरु' ही अज्ञान, माया तथा भ्रांति को नष्ट करनेवाला ब्रह्म है। इस बात में कोई आशंका या संशय नहीं करना चाहिये।

अज्ञान ग्रासकं ब्रह्म, गुरुरेव न संशयः ।

श्रीगुरु-गीता में यत्र तत्र, सर्वत्र, श्रीगुरु महिमा का ही गान किया गया है। गुरु में जागृत ईश्वरी शक्ति, चितिशक्ति ही गुरु होती है, इस तत्त्व को न जानते हुए किये गये यज्ञ, व्रत, जप, तप, दान, तीर्थयात्रा आदि साधन निरर्थक हो जाते हैं। गुरु-तत्त्व ही शिव-तत्त्व या ब्रह्म है। इसीलिए गुरुदर्शित साधन या मार्ग से आत्म-तत्त्व या आत्मस्थिति प्राप्त होती है।

गुरु तत्त्वमविज्ञाय, मूढास्ते चरते जनाः ।

ऐसा कहा गया है। और चित्तशुद्धि का उपाय या साधन बताया गया है—

गुरु दर्शित मार्गेण, मनः शुद्धिं तु कारयेत् ।

बिना चित्त शुद्धि, ज्ञान तथा आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होता। आत्म-ज्ञान का सरल उपाय बताती हुई श्रीगुरु-गीता स्पष्ट शब्दों में कहती है—

गुरोः कृपा प्रसादेन, आत्मारामं निरीक्षयेत् ।
अनेन गुरु मार्गेण, स्वात्मज्ञानं प्रवर्तते ।। ११० ।।

गुरु-कृपा-प्रसाद अर्थात् गुरुदीक्षा से ही आत्म-साक्षात्कार होता है और गुरु-प्राप्त साधन से एवं मार्ग से साधक को आत्मज्ञान की उपलब्धि होती है। गुरु, अज्ञान रूपी अंधःकार से अंधत्व प्राप्त शिष्य के नेत्र में ज्ञानरूपी अंजन की शलाका लगाते ही उसके नेत्र खोल देते हैं। उसे दिव्य प्रकाश की प्राप्ति हो जाती है। यह चक्षु का उन्मीलत होनाही गुरु-दीक्षा का परिणाम है। वास्तविक इसीको ही गुरु-दीक्षा कहते हैं। उस कृपा-प्रसाद स्वरूप, दीक्षा से वे शिष्य के जन्मजन्मातरों में अर्जित किये कर्मों तथा उन कर्मों के संस्कारों को दग्ध करने की प्रक्रिया शुरू क़र देते हैं।

अनेक जन्म संप्राप्त, सर्व कर्मविदाहिने ।

गुरु-कृपा-प्रसाद से केवल अपने शिष्य को ही नहीं, बल्कि ब्रह्मा, विष्णु और सदाशिव को भी अपनी शक्ति से समर्थ बना देते हैं। उसके बिना तो वे सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय करने में भी समर्थ नहीं होते। गुरु-सेवा करने से ही कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है।

गुरोः कृपा प्रसादेन, ब्रह्म विष्णु सदाशिवाः ।
समर्थाः प्रभवादौच, कैवल्यं गुरु सेवया ।। ८३ ।।

श्रीगुरु से श्रेष्ठ अन्य कोई तत्त्व नहीं, न गुरुसेवा से अन्य श्रेष्ठ तप है। गुरु ही सब के आदि (प्रारंभ में) होने से वे अनादि कहे जाते हैं। वे ही परम श्रेष्ठ दैवत हैं। गुरु से श्रेष्ठ, अर्थात् गुरु-तत्त्व से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं हैं।

गुरुरादिरनादिश्च, गुरुः परम दैवतम् ।
गुरोः परतरं नास्ति, तस्मै श्री गुरवे नमः ।। ७७ ।।

श्री गुरु का स्वरूप अखण्ड मण्डलाकार होता हुआ उसने सब चराचर सृष्टि को व्याप्त किया है। वे चैतन्यरूप, चिरंतन, शान्त, व्योमातीत और निरंजन होकर, सर्व जगत् को व्याप्त करनेवाले हैं। वे नित्यशुद्ध, आभास रहित, निराकार, नित्यबोधस्वरूप, चिदानन्दरूप ब्रह्म ही हैं। वे ही केवल ज्ञान की मूर्ति होकर परम

सुखद ब्रह्मानन्द प्रदान करते हैं। यह गुरुमूर्ति ही ध्यान का मूल है, पूजा का मूल है, उनका वचन ही मंत्ररूप होता है और मोक्ष का मूल यह गुरु-कृपा ही होती है।

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः, पूजामूलं गुरो पदम्।
मंत्र मूलं गुरोर्वाक्यं, मोक्ष मूलं गुरोः कृपा।। ७६।।

इस प्रकार श्री गुरु की महिमा ज्ञात हो जाने पर, साधक, शिष्य और गुरुभक्तों ने गुरुमूर्ति का अखण्ड स्मरण करना चाहिये। क्योंकि,—

यस्य स्मरण मात्रेण, ज्ञानमुत्पद्यते स्वयम्।

उनके स्मरण करते ही ज्ञान स्वयं निर्माण हो जाता है। वे स्वयं ज्ञान मूर्ति होते हैं। अर्थात् शिष्य की चित्तशुद्धि होने के उपरान्त ही, ज्ञान का उदय होता है। यह चित्त शुद्धि की प्रक्रिया गुरु-दीक्षा से प्राप्त शक्ति-जागृति से ही स्वयं घटित होती है।

ज्ञान शक्ति समारूढ़ और तत्त्व-माला से विभूषित श्रीगुरु, शिष्य-साधकों को भुक्ति और मुक्ति प्रदान करते हैं। फिरभी निष्काम भाव से सेवा करने से, गुरु संतुष्ट हो जाते हैं। ज्ञान और विज्ञान की प्राप्ति गुरु प्रसन्न होने पर ही होती है। ज्ञान शब्द का अर्थ यहाँ जगत् का ज्ञान नहीं, अपितु आत्म-ज्ञान तथा स्वरूप ज्ञान है और उस आत्म-ज्ञान की या स्वरूप-ज्ञान की अनुभूति ही विज्ञान होता है। इस प्रकार ज्ञान और विज्ञान की प्राप्ति होने के उपरान्त जो भक्ति होती है, उसे ही 'परम भक्ति' 'शुद्ध भक्ति' या 'परा भक्ति' कहा जाता है। इस भक्ति में पूर्ण अद्वैत या अभेद दृष्टि आ जाने से **'गुरुरेव जगत् सर्वम्'** सारा जगत् गुरुमय दिखाई देने लगता है। यह एक अत्युच्च स्थिति है, जहाँ साधक को

मन्नाथ श्रीजगन्नाथो, मद्गुरु स्त्रिजगद् गुरुः।
ममात्मा सर्वभूतात्मा, तस्मै श्री गुरुवे नमः।। ७५।।

अर्थात् मेरे गुरुनाथ ही जगन्नाथ है और मेरे गुरु ही श्री जगद्गुरु हैं, इतनाही नहीं मेरी आत्माही सर्व प्राणिमात्र की आत्मा है। मैं ही सब में व्याप्त हूँ। यह श्रेष्ठतम अमृतमय अनुभूति आती है।

साधक की चित्त स्थिति के अनुसार श्रीगुरु निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में प्रकट हो जाते हैं। गुरु भक्ति, गुरु सेवा, उपासना, ध्यान, समर्पण आदि तो सगुणरूप में ही संभनीय है। सगुण उपासना में सकामता आने पर साधक की चित्तस्थिति और भी निम्न स्तर पर उतर आती है।

सभी स्तर के साधकों के लिए श्रीगुरु-गीता उपदेश तथा मार्गदर्शन करती है। ज्ञान, भक्ति, कर्म, योग, उपासना, जप, तप, यज्ञयाग, अर्चना, प्रार्थना आदि

अनेक विषयों पर मार्गदर्शन किया गया है। सकाम भक्तों के लिए, आसन, आसन का रंग और प्रकार, दिशा, स्थान, फलश्रुति तथा रहस्य, आदि विषयों की भी जानकारी दी गई है। श्री गुरु-गीता का रहस्य किसको नहीं बताना चाहिये और किसको बताना चाहिये इसका भी निर्णय अन्त में दिया गया है।

अतीव पक्व चित्ताय, श्रद्धा भक्ति युताय च।
प्रवक्तव्यमिदं देवि, ममात्माऽसि सदा प्रिये।। १८०।।

अर्थात् साधना द्वारा जिसका चित्त परिपक्व, (दृढ़) हुआ है, श्रद्धाभक्ति से युक्त है और हे देवी ! जैसे तूं और मैं एकात्म होने से, एक दूसरे को नित्य अति प्रिय बने हैं, उसी प्रकार जो मुझसे (श्रीगुरु से) एकात्म होने की इच्छा और भक्ति करेगा तथा नित्य प्रिय बनेगा, उसे ही यह रहस्य प्रकट करना या कथन करना चाहिये।

हम आशा करते हैं कि, साधकगण एवं मुमुक्षुजन श्रीगुरुगीता की अर्थ और व्याख्या सहित लिखी गयी इस पुस्तक को अपनाकर लाभान्वित होंगे और गुरुभक्ति को विकसित करेंगे। अपने अंतर में जागृत गुरु शक्ति के प्रति समर्पित हो कर अपनी साधना में दत्तचित्त होकर, अध्यात्म-पथ पर अग्रसर होते रहेंगे और अपने ध्येय को शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करने का प्रयास करेंगे। भगवान् सभी को प्रेरणा तथा उत्साह देकर, सभी का कल्याण करें ! यही शुभ-कामना ! इति शम्।

—स्वामी शिवोम्तीर्थ

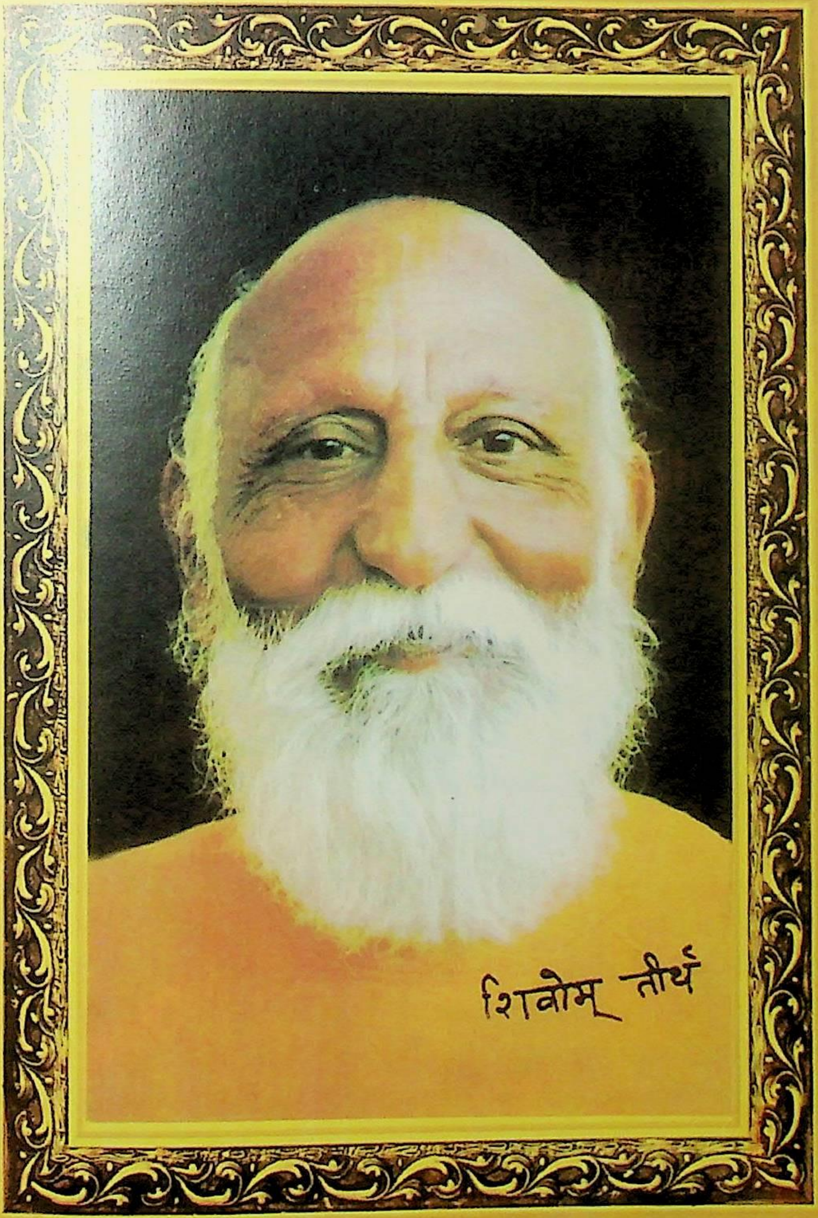

Swami Shivom Tirth

श्री गुरु गीता के अर्थ एवं व्याख्याता
— श्री स्वामी शिवोम्‌तीर्थजी महाराज के अल्प परिचय —

प. पू. श्री स्वामी शिवोम् तीर्थ जी महाराज वर्तमान शक्तिपात मार्ग की गुरु-परम्परा में एक दिव्य प्रकाश के दीप-स्तंभ के समान साधकों को, जिज्ञासूओं को तथा मुमुक्षूओं को मार्गदर्शन कर रहे हैं। उनकी दिव्य वाणी इंद्रियों के माध्यम से अंतः प्रविष्ट होकर अंतश्चेतना को जगाने का सामर्थ्य रखती है। मोक्ष प्राप्ति स्वरूप स्थिति वा आत्म स्थिति प्राप्त करना ही मुमुक्षू साधक का लक्ष्य रहता है। यह स्थिति प्राप्त करने के लिए चित्त शुद्धि अनिवार्य तथा अत्यावश्यक है। शक्तिपात दीक्षा के द्वारा चित्त शुद्धी का मार्ग सहजता से प्रशस्त हो जाता है।

शक्तिपात गुरु परम्परा में श्री स्वामी शिवोम् तीर्थ महाराज ब्रह्मलीन प. पू. स्वामी विष्णुतीर्थ महाराज से शक्तिपात दीक्षा से अनुग्रहीत है। शिष्य का सेवा भाव तथा अधिकार देखकर श्री गुरु महाराज उन्हें गुरु-पद देकर, अपना उत्तराधिकारी भी नियुक्त किया है। स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज से मिलने के पूर्व वे गृहस्थाश्रमी थे। उनका जन्म जनवरी १९२४ में पंजाब के गुजरात शहर में हुआ। उनका नाम ओम् प्रकाश रखा गया था। दैवी संपदा के सभी संस्कार लेकर बालक ओम् प्रकाश जन कल्याण हेतु अवतरित हुए थे। प्रारंभ से ही वे धर्म में रुचि और सद्‌भाव रखते थे और साधु-महात्माओं के दर्शन किया करते थे। लाहोर में शिक्षा पाकर, पदवी भी प्राप्त की थी। नानगल डॉम पर ऊँचे ओहदे पर वे नौकरी करते थे।

स्वातंत्र्योत्तर काल में भारत का विभाजन हुआ। इस विभाजन से श्री ओम् प्रकाश जी के परिवार की अपरिमित हानि हुई। गृहस्थी-जीवन उध्वस्थ हुआ। परम प्रिय पिताजी का पाकिस्तान से सदैव के लिए गायब होकर न लौटना, पत्नि का देहान्त होना, नौकरी छोड़ना आदि अनेकानेक दुःखों से, आपत्तियों से ओम् प्रकाश जी व्यथित होकर मन शांति के लिए हिमालय में भ्रमण करने लगे। पूर्व पुण्य से प.पू. स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज का दर्शन हुआ और उनके व्यक्तित्व से प्रभावित तथा आकृष्ट होकर देवास में आये। वहाँ उन्हें स्वामी जी ने सन १९५९ में शक्तिपात की दीक्षा दी और नैष्ठिक ब्रह्मचारी की दीक्षा देकर वे ब्रह्मचारी शिवोम् प्रकाश बने। ब्रह्मचारी शिवोम् प्रकाश जी ने श्री गुरु देव की रात-दिन सेवा की। आश्रम के सभी प्रकार के काम साधना, सेवा समझकर बड़ी प्रसन्नता से किया करते थे। श्री गुरु देव के प्रति पूर्ण समर्पित थे। मित आहार, अल्प निद्रा, मधुर भाषण, अध्यात्म ग्रंथों का

अध्ययन, चिंतन, मनन, आश्रम का निर्माण और सफाई कार्य, परिश्रम करने की धून, दृढ़ वैराग्य, निराभिमानता, शुचिता, आदि अनेक सद्‌गुणों से श्री गुरु महाराज, शिवोम् प्रकाश जी पर बहुत संतुष्ट एवं प्रसन्न रहते थे। सन १९६३ में काशी मठ के श्री स्वामी नारायण तीर्थजी महाराज से विधिवत् दण्डी संन्यास की दीक्षा लेकर उन्हें स्वामी शिवोम् तीर्थ योगपट प्रदान किया गया।

प. पू. स्वामी गंगाधर तीर्थ जी महाराज के भविष्य कथनानुसार श्री स्वामी शिवोम् तीर्थ महाराज जी ने केवल भारत में ही नहीं अपितु मलेशिया, अमेरिका, कैनडा, इंग्लैंड आदि अनेक देशों में शक्तिपात दीक्षा द्वारा ज्ञानाग्नि प्रज्वलित एवं प्रसारित करने का विशाल कार्य सम्पन्न किया है। **'सर्वभूत हिते रतः।'** ऐसी उनकी जीवन दृष्टि है। उनके अनुयायी, शिष्य एवं भक्तों में हिन्दु, मुस्लिम, सीख, ख्रिश्चन, ज्यू, पारसी, चिनी, जपानी, अंग्रेज आदि सभी प्रकार के लोग हैं। सभी साधक-शिष्यों पर वे समभाव प्रेम करते हैं और अपना बना लेते हैं।

श्री स्वामी शिवोम् तीर्थ महाराज जी ने अपने श्री गुरुदेव की डायरी के कुछ पन्ने प्रकाशित करके साधक तथा योगमार्ग के जिज्ञासूओं को विशेष लाभ प्रदान किया है। श्री गुरुदेव की अद्‌भुत योग अनुभूतियाँ तथा वर्णित शक्ति की क्रियाएँ व्याख्या करके बहुत ही सरलता से समझायी है। इन अनुभूतियों से साधकों को उचित तथा अचूक मार्गदर्शन मिलता रहेगा।

श्री स्वामी शिवोम् तीर्थ महाराज़ जी ने निम्न महत्वपूर्ण पुस्तके लिखी हैं।
(१) शक्तिपात-पथ-प्रदर्शिका भाग-१, २ और ३ (२) नारायण उपदेशामृत (३) योग-विभूति (४) गुरू-परम्परा (५) साधन-पथ (६) शक्तिपात - प्रश्नोत्तरी (७) हृदय मंथन भाग - १, २ और ३ (८) चित्ती लीला (९) पुनरुदय

स्वामी नित्यबोधानन्द तीर्थ

।। श्रीः ।।

श्रीगणेशाय नमः - श्री सरस्वत्यै नमः- श्री गुरुभ्यो नमः

— अथ श्री गुरुगीता प्रारम्भः —

ॐ अस्य श्री गुरुगीता स्तोत्र मंत्रस्य भगवान् सदाशिवऋषिः ।
नाना विधानि छन्दांसि ।श्री गुरु परमात्मा देवता ।
हं- बीजम् । सः शक्तिः । क्रों- कीलकम् ।
श्री गुरु प्रसाद सिद्धयर्थे जपे विनियोगः ।

अर्थ— इस गुरुगीता स्तोत्र मंत्र के भगवान् सदाशिव ऋषि हैं। नाना प्रकार के छन्दों का इसमें उपयोग हुआ है। इसके देवता गुरु परमात्मा हैं। हं- बीज है। सः- शक्ति है। क्रों- कीलक है। श्री गुरुदेव की प्रसन्नता सिद्धि के लिये जप में विनियोग करता हूँ।

व्याख्या— किसी भी स्तोत्र के ऋषि, छन्द, देवता, बीज, शक्ति, कीलक के बिना स्मरण किये, स्तोत्र पाठ का पूरा फल प्राप्त नहीं होता, ऐसा शास्त्रकारों का मत है, किन्तु जिनकी शक्ति जागृत हो चुकी है, अङ्ग प्रत्यङ्ग में शक्ति की प्रत्यक्ष अनुभूति होना प्रारम्भ हो गई हो, तब विभिन्न अङ्गो में देवाताओं की शक्ति, बीजादि की भावना करने की विशेष आवश्यकता नहीं रहती किन्तु फिर भी कई साधक, जो भावना प्रधान हैं, उन्हें अङ्ग न्यास, करन्यास आदि करने में कोई आपत्ति भी नहीं हैं, इस विषय को हम साधकों को व्यक्तिगत निर्णय पर छोड़ते हैं। न्यास का अर्थ होता है, उन-उन स्थानों पर मंत्र के अधिष्ठाता-देवता-की स्थापना करना- और पूरे शरीर को मंत्र-मय बनाकर साधना करना, **"देवो भूत्वा देवं यजेत्"**

— अथ कर न्यासाः —

ॐ हं, सां, सूर्यात्मने - अंगुष्ठाभ्यां नमः ।
ॐ हं, सीं, सोमात्मने- तर्जनीभ्यां नमः ।
ॐ हं, सूं, निरंजनात्मने - मध्यमाभ्यां नमः
ॐ हं, सैं, निराभासात्मने - अनामिकाभ्यां नमः ।
ॐ हं सौं अतनुसूक्ष्मात्मने कनिष्ठिकाभ्यां नमः ।
ॐ हं, सः, अव्यक्तात्मने - करतल कर पृष्ठाभ्यां नमः ।

व्याख्या— इन न्यासों के करने के समय तर्जनी अङ्गुली को, अंगुष्ठ के प्रथम पर्व से अंगुष्ठ के मूल तक, स्पर्श करते हुए फिराना चाहिये और फिर अंगुष्ठ के अग्रभाग से यथाक्रम नीचे से ऊपर की ओर सब अंगुलियों पर फिराना चाहिये। करतल पृष्ठ के स्थान पर, दांये हाथ को बांये हाथ के पृष्ठ भाग पर स्पर्श करना चाहिये। बाद में बांये हाथ को दाहिने हाथ के पृष्ठ भाग पर स्पर्श करना चाहिये।

— अथ हृदयादि न्यासाः

ॐ हं, सां, सूर्यात्मने - हृदयाय नमः ।
ॐ हं, सीं, सोमात्मने - शिरसे स्वाहा ।
ॐ हं, सूं, निरंजनात्मने - शिखायै वषट् ।
ॐ हं, सैं, निराभासात्मने - कवचाय हुं ।
ॐ हं, सौं, अतनु सूक्ष्मात्मने - नेत्रत्रयाय वौषट् ।
ॐ हं, सः, अव्यक्तात्मने अस्त्रायफट्
ॐ ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम् - इति दिग्बन्धः

व्याख्या— अंगुष्ठ के सहित चारों अंगुलियों को मिलाकर हृदयादि स्थानों पर क्रम से स्पर्श करना चाहिये। **कवचाय हुं, के-** समय अंगुलियों की पूर्व स्थिति में ही, दाहिने हाथ में बांये स्कन्ध का स्पर्श तथा बांये से दाहिने स्कन्ध का स्पर्श करना चाहिये। **अस्त्राय फट्** के समय दाहिने हाथ को सिर पर से घुमा कर बांये हाथ पर ताली बजाकर शब्द करना चाहिये।

— अथ ध्यानम् —

हंसाभ्यां परिवृत्त पत्र कमलैर्दिव्यै जगत्कारणै-।
र्विश्वोत्कीर्णमनेक देह निलयैः स्वच्छन्द मात्मेच्छया ।
तद्योतं पद शाम्भवं तु चरणं दीपांकुर ग्राहिणम् ।
प्रत्यक्षाक्षर विग्रहं गुरुपदं ध्यायेद् विभुं शाश्वतम् ।। १ ।।

अर्थ— जो प्रत्यक्ष अविनाशी विग्रह है, जो शाश्वत (निरन्तर है)- जो सर्वव्यापक एवं सर्व समर्थ है। जो स्वच्छन्द है, (सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र है) जो अपनी इच्छा से ही, इस विशाल संसार में अनेक देह रूपी निवास स्थानों को बनाये हुये है, जो दिव्य है, जगत् का आदि कारण है, जो ज्ञान और वैराग्य रूपी दो हंसो से घिरा हुआ है, जो भगवान् शंकर के (प्रकाश मान्) चरण द्रव्य से दीपाङ्कुर रूपी प्रकाश को ग्रहण किये हुये है, ऐसे गुरु पद में (वर्तमान् गुरुदेव का) ध्यान करें ॥ १ ॥

— अथ श्रीगुरुगीता —

सूत उवाच—

कैलाश शिखरे रम्ये, भक्ति सन्धान नायकम् ।
प्रणम्य पार्वती भक्त्या, शंकरं पर्य पृच्छत । । १ । ।

अर्थ— सूतजी बोले- रमणीय कैलाश शिखर पर, भक्ति से जोड़ने वाले जितने साधन हैं, उनके अधिनायक, भगवान् शंकर से, भगवती पार्वती ने भक्ति पूर्वक प्रणाम करके पूछा। । १ । ।

श्रीदेव्युवाच —

ॐ नमो देव देवेश, परात्पर जगद् गुरोः ।
सदाशिव महादेव, गुरु दीक्षां प्रदेहि मे । । २ । ।

अर्थ— हे देव देवश ! हे परात्पर जगद् गुरु ! हे सदाशिव ! हे महादेव ! आपको नमस्कार है। मुझे गुरु दीक्षा प्रदान करें। । २ । ।

केन मार्गेण भो स्वामिन्, देही ब्रह्ममयो भवेत् ।
त्वं कृपां कुरु मे स्वामिन्, नामामि चरणौ तव । । ३ । ।

अर्थ— हे स्वामिन् ! मैं आपके चरणों में प्रणाम करती हूँ, हे स्वामिन् ! आप मुझ पर कृपा करके, बतावें, कि किस उपाय या मार्ग से देहधारी मनुष्य ब्रह्म रूप को प्राप्त करता है। । ३ । ।

श्रीईश्वर उवाच—

मम रूपासि देवित्वं, त्वत्प्रीत्यर्थं वदाम्यहम् ।
लोकोपकारकः प्रश्नो, न केनापि कृतः पुरा । । ४ । ।

अर्थ— भगवान् शंकर बोले— हे देवी ! तुम मेरा स्वरूप हो यह लोक हित की भावना से किया गया प्रश्न है, इस प्रकार का प्रश्न, पहले किसीने नहीं किया। तुम्हारी प्रसन्नता के लिये मैं अपने विचार प्रकट करता हूँ। ।४ । ।

दुर्लभं त्रिषु लोकेषु, तच्छृणुष्व वदाम्यहम् ।
गुरुं विना ब्रह्म नान्यत्, सत्यं सत्यं वरानने ।। ५ ।।

अर्थ— जो रहस्य तीनों लोकों के लिये दुर्लभ है, उसको मैं तुम्हारे प्रति प्रकट करता हूँ, सुनो ! हे वरानने ! गुरु को छोड़-कर कोई ब्रह्म नहीं है, यह मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, सत्य कहता हूँ।। ५ ।।

वेद शास्त्र पुराणानि, इतिहासादिकानि च ।
मंत्र यंत्रादि विद्याश्च, स्मृतिरुच्चाटनादिकम् ।। ६ ।।

शैव शाक्तागमादीनि, अन्यानि विविधानि च ।
अपभ्रंशकराणीह, जीवानां भ्रान्त चेतसाम् ।। ७ ।।

अर्थ— भ्रान्ति में पड़े हुये जीवों के लिये, वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहासादि, मंत्र यंत्रादि विद्या, स्मृतिशास्त्र उच्चाटनादि क्रियायें, शैव, शाक्तागमादि का ज्ञान, और भी विविध प्रकार के साधन, सब (बिना गुरु के) गिराने वाले हैं।। ७ ।।

यज्ञो व्रतं तपो दानं, जपस्तीर्थं तथैव च ।
गुरुतत्त्वमविज्ञाय, मूढास्ते चरते जनाः ।। ८ ।।

अर्थ— जो गुरु तत्त्व को बिना जाने, यज्ञ, व्रत, तप, दान, जप, तीर्थ सेवनादि करते हैं, वे लोग मूढ़ता का ही आचरण करते हैं।। ८ ।।

गुरु बुध्यात्मनो नान्यत् सत्यं सत्यं न संशयः ।
तल्लाभार्थं प्रयत्नस्तु, कर्तव्यो हि मनीषिभिः ।। ९ ।।

अर्थ— गुरुदेव की कृपा से ही बुद्धि और आत्मा का संचालन होना चाहिये, दूसरे किसी उपाय से नहीं, (भगवान् शंकर पार्वतीजी से कह रहे हैं कि) इसमें कोई सन्देह नहीं है। यह बिल्कुल सत्य है, सत्य है। बुद्धिमानों को इस प्रकार की स्थिति लाभ के लिये प्रयत्न करना चाहिये। अपनी बुद्धि और आत्मा दोनों का उपयोग गुरुदेव के प्रति समर्पण भावना से होना चाहिये।। ९ ।।

गूढविद्या जगन्माया, देहे चाज्ञानसम्भवा ।
उदयः स्व प्रकाशेन गुरु शब्देन कथ्यते ।। १० ।।

अर्थ— देह में अज्ञान का उद्भव, गूढ़विद्या (गुप्तविद्या) जगत् और माया आदि रहस्यों को समझाने के लिये गुरु शब्द के स्वयं प्रकाश की आवश्यकता होती है, उससे ही, इनका उदय माना गया है (कहा गया है) ।।१० ।।

सर्व पाप विशुद्धात्मा, श्री गुरोः पाद सेवनात् ।
देही ब्रह्म भवेद् यस्मात्, तत्कृपार्थं वदामि ते ।। ११ ।।

अर्थ— सब पापों से विरहित विशुद्धात्मा (निष्पाप व्यक्ति) देह धारण करने वाला, श्री गुरुदेव के चरणों की सेवा के प्रभाव से, ब्रह्म भाव को जिस प्रकार प्राप्त कर लेता है उसको मैं तुमसे कहता हूँ।। ११ ।।

गुरु पादाम्बुजं स्मृत्वा, जलं शिरसि धारयेत्।
सर्व तीर्थावगाहस्य संप्राप्नोति फलं नरः।। १२ ।।

अर्थ— गुरु चरण का ध्यान करके उनके चरणामृत को जो व्यक्ति अपन मस्तक पर धारण करता है, उसको सब तीर्थों में स्नान का फल प्राप्त हो जाता है।। १२ ।।

शोषणं पाप पङ्कस्य, दीपनं ज्ञान तेजसाम्।
गुरु पादोदकं सम्यक्, संसारार्णव तारकम्।। १३ ।।

अर्थ— गुरुदेव का चरणोदक संसार रूपी सुमद्र से पार करने वाला। तथा पाप रूपी कीचड़ को सूखाने वाला एवं ज्ञान और तेज को अच्छी प्रकार प्रकाशित करने वाला है।। १३ ।।

अज्ञान मूल हरणं, जन्मकर्म निवारणम्।
ज्ञान वैराग्य सिद्धयर्थं, गुरु पादोदकं पिबेत्।। १४ ।।

अर्थ— अज्ञान के मूलोच्छेद के लिये, जन्म और कर्म बन्धन निवारण के लिये, ज्ञान वैराग्य की सिद्धि के लिये गुरु देव के चरणोदक का पान करना चाहिये।।१४ ।।

गुरोः पादोदकं पीत्वा, गुरुरुच्छिष्ट भोजनम्।
गुरु मूर्तेः सदा ध्यानं, गुरु मंत्रं सदा जपेत्।। १५ ।।

अर्थ— गुरुदेव के चरणोदक का पान, उनके भुक्तशेष अन्न का प्रसाद ग्रहण, और गुरुदेव का ही सदा ध्यान करते हुए उनके द्वारा प्रदत्त मंत्र का जप करना चाहिये।। १५ ।।

काशी क्षेत्रं तन्निवासो, जाह्नवी चरणोदकम्।
गुरुः विश्वेश्वरः साक्षात् तारकं ब्रह्म निश्चितम्।। १६ ।।

अर्थ— गुरुदेव का निवास ही काशी क्षेत्र है, उनका चरण प्रक्षालित जलही, गंगाजल है। गुरुदेव ही प्रत्यक्ष विश्व के अधिष्ठाता विश्वनाथ हैं एवं तारक मंत्र का उपदेश देने वाले ब्रह्म भी वे ही हैं ।। १६ ।।

व्याख्या— काशी क्षेत्र प्राचीन काल से, गंगातट एवं भगवान् विश्वनाथ की विद्यमानता से, तप, ज्ञानार्जन का केन्द्र रहा है, जिसे मुक्ति का द्वार माना जाता रहा है। इसी लिये ऐसी मान्यता विकसित हो गई कि काशी क्षेत्र में शरीर त्याग करने से

मुक्ति लाभ होता है, किन्तु गुरु भक्तों के लिये श्री गुरु चरणों में ही काशी है, जहाँ से पवित्र ज्ञान एवं भावना रूपी गंगाधारा प्रवाहित होती रहती हैं। श्री गुरु स्वयं साक्षात् विश्वनाथ एवं उनके द्वारा प्रदत्त नाम मंत्र ''तारक मंत्र'' हैं। जहाँ गुरुदेव निवास करते हैं, वही काशी है। आध्यात्मिक स्तर पर काशी — साधना की अवस्था विशेष है, जिसे समाधि अवस्था कहा जाता है, जिसे प्राप्त कर प्रत्यक्ष गुरु तत्त्व के दर्शन से, पतित पावनी श्री गंगा के स्नान का फल, एवं साधना का फल, ''भवसागर से तर जाना'' प्राप्त हो जाता है।

यहाँ साधक को ऐसा स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि जो कुछ भी है सब अपने शरीर के भीतर ही है ।

गुरु तत्त्व एवं गंगा, जगत् में भाव उत्पन्न करने के साथ शक्ति की जागृत अवस्था प्राप्त करने के लिए है। जब शक्ति का जागरण गुरुशक्ति के माध्यम से हो जाता है तो फिर तीर्थों का उतना महत्त्व नहीं रहता, उसके लिये काशी, विश्वनाथ, गंगा सब कुछ गुरु चरण ही हैं, और इस प्रकार साधक अन्तरमुखी हो कर तीर्थों का फल प्राप्त करता रहता है।। १६ ।।

गुरोः पादोदकं यत्तु, गयाऽसौ सोऽक्षयो वटः ।
तीर्थराज प्रयागश्च, गुरुमूर्ते नमो नमः ।। १७ ।।

अर्थ— गुरुदेव का चरणोदक ही गया तीर्थ है, तथा अक्षय वट भी वही है। तीर्थराज प्रयाग भी वही है। ऐसे गुरु देव को बार बार प्रणाम है।। १७ ।।

व्याख्या— गया के सम्बन्ध में ऐसी भावना है कि वहाँ पिण्डदान से पितरों को मुक्ति प्राप्त होती है। अतः गया को पितरो का मुक्ति स्थल माना गया है। अक्षय वट के क्षेत्र में साधना से अक्षय फल की प्राप्ति होती है, एवं प्रयाग राज में गंगा-यमुना-सरस्वती-तीनों का संगम होने से प्रयाग तीर्थराज कहलाता है, इसी प्रकार गुरुदेव के शरीर में ईडा, पिंगला, एवं सुषुम्ना इन तीनों का संगम होने से वे स्वयं तीर्थराज हैं, गुरु के प्रति तीर्थ भावना रख कर साधना करने से सभी तीर्थों का फल प्राप्त हो जाता है। गुरुदेव के शरीर में उपरोक्त तीनों नाड़ियाँ अपना स्वतंत्र अस्तित्व त्यागकर चैतन्य रूप हो जाती हैं।। १७ ।।

गुरुमूर्तिं स्मरेन्नित्यं गुरु नाम सदा जपेत् ।
गुरोराज्ञां प्रकुर्वीत, गुरोरन्यन्न भावयेत् ।। १८ ।।

अर्थ— गुरु मूर्ति का नित्य स्मरण करना चाहिये और गुरु नाम का सदा जप करना चाहिये, एवं गुरुदेव की आज्ञा का पालन करना चाहिये तथा गुरुदेव को छोड़कर और किसी की भावना नहीं करना चाहिये।। १८ ।।

व्याख्या— इस श्लोक में मुख्य रूप से स्मरण, जप, आज्ञापालन और अनन्यता इन चार साधनों द्वारा गुरु आराधना पर जोर दिया गया है। बिना स्मरण के जप नहीं हो सकता, और बिना गुरु आज्ञा पालन के अनुशासन में दृढ़ता नहीं आती, इस लिये गुरु के प्रति बिना अनन्यता के स्मरण, जप, आज्ञापालन सम्भव ही नहीं है।। १८।।

गुरु वक्त्र स्थितं ब्रह्म, प्राप्यते तत्प्रसादतः।
गुरो ध्र्यानं सदा कुर्यात्, कुल स्त्री स्वपतेर्यथा।। १९।।

अर्थ— गुरु देव के मुख में स्थित वाणी रूपी ब्रह्म, गुरुदेव की प्रसन्नता से प्राप्त होता है। इसलिये गुरुदेव का ध्यान सर्वदा करते रहना चाहिये, जैसे कुलवती स्त्री अपने पति का ध्यान करती है।। १९।।

व्याख्या— गुरु द्वारा उपदिष्ट उपदेश ही, गुरु की वाणी में स्थित ब्रह्म है, उस ब्रह्म की प्राप्ति गुरुदेव की प्रसन्नता से प्राप्त की जा सकती है, पर उसके लिये गुरुमूर्ति का ध्यान निरन्तर बना रहना चाहिये। निरन्तरता का यह अर्थ नहीं है, कि वो अपनी लोक चर्या के सब काम छोड़ कर गुरुदेव का चिन्तन करता रहे, उसके लिये यहाँ कुलवती नारी का उदाहरण दिया जा रहा है, जिस प्रकार पतिव्रता नारी घर का सब काम करते हुए पतिका स्मरण निरन्तर बनाये रखती है, उसी प्रकार प्रत्येक साधक को गुरु का मन में ध्यान करते हुए, प्रत्येक लौकिक कार्यों का सम्पादन करना चाहिये।। १९।।

स्वाश्रमं च स्वजातिंच, स्वकीर्ति पुष्टि वर्धनम्।
एतत्सर्वं परित्यज्य, गुरोरन्यन्न भावयेत्।। २०।।

अर्थ— अपने आश्रम, जाति, कीर्ति, सम्पन्नता इन सबकी आसक्ति का त्याग कर गुरुदेव का चिन्तन करना चाहिये, और किसी का नहीं।। २०।।

व्याख्या— अनन्यता प्राप्ति में आश्रम, जाति, कीर्ति, सम्पन्नता आदि बाधा पहुंचाते हैं, अतः इनकी आसक्ति का त्याग करने पर ही अनन्य भाव बन सकता है।। २०।।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां, सुलभं परमं पदम्।
तस्मात् सर्व प्रयत्नेन गुरोराराधनं कुरु।। २१।।

अर्थ— अनन्य भाव से जो मेरा (शिव) का चिन्तन करते हैं, उनके लिये परम् पद सुलभ है। इसलिये सब प्रयत्न करके (शिवरूप) गुरुदेव की आराधना करो।। २१।।

व्याख्या— अनन्यता पर विशेष बल देते हुए भगवान् शंकर देवी पार्वती से कह रहे हैं कि मैं (शिव) एवं परम पद दोनों अनन्यता से (अनन्य भाव से ही) सुलभ हैं। परम पद और शिवत्व प्राप्ति के लिये गुरु की आराधना करना चाहिये, जिसके लिये निरन्तर प्रयत्न अनिवार्य है।। २१।।

त्रैलोक्य स्फुटवक्तारो, देवाद्या सुर पन्नगाः।
गुरु वक्त्र स्थिता विद्या गुरुभक्त्या तु लभ्यते।। २२।।

अर्थ— सारे त्रिलोक में जितने अच्छे वक्ता हैं, तथा देवता, असुर, नाग आदि जितनी भी जातियाँ हैं, इन सब को, गुरु मुख स्थित विद्या, गुरु भक्ति से ही प्राप्त होती है।। २२।।

व्याख्या— तीनों लोकों में जितने भी अच्छे वक्ता या उपदेशक हैं, वे चाहे देवता हों, असुर हों, नाग हों, सब को गुरुमूर्ति में स्थित ज्ञान प्राप्ति के लिये, गुरु भक्ति आवश्यक है। जहाँ वक्तृत्व शक्ति तथा ज्ञान के दर्शन हों, वहाँ गुरुशक्ति से गुरु भक्ति द्वारा दिया गया वरदान ही समझना चाहिये।। २२।।

गुकार स्त्वन्धकारश्च, रुकार स्तेज उच्यते।
अज्ञान ग्रासकं ब्रह्म, गुरुरेव न संशयः।। २३।।

अर्थ— गुरु शब्द में "**गु**" कार अन्धकार का द्योतक है "**रु**" कार तेज का द्योतक है, इस प्रकार गुरु शब्द अज्ञान रूपी अन्धकार को हरण करने वाला प्रकाशमय ब्रह्म है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।। २३।।

व्याख्या— यहाँ गुरु नामक दो अक्षरों को ब्रह्म की संज्ञा दी गई है, एक अक्षर को अन्धकार का द्योतक माना है दूसरे अक्षर को प्रकाश का प्रतिनिधि माना है, इस प्रकार गुरु शब्द को अज्ञान के नाश तथा ज्ञान के प्रकाश रूप में मानने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिये।। २३।।

गुकारः प्रथमो वर्णो मायादि गुण भासकः।
रुकारो द्वितीयो ब्रह्म, माया भ्रान्ति विनाशनम्।। २४।।

अर्थ— गुरु शब्द का प्रथमाक्षर "**गु**" माया आदि गुणों को प्रकाशित करता है। दूसरा "**रु**" कार रूपी अक्षर, माया तथा भ्रान्ति का नाश करने वाला है। ।। २४।।

व्याख्या— माया और भ्रान्ति के चक्र में सारा संसार चक्कर लगा रहा है, यहाँ गुरु का प्रथमाक्षर माया, भ्रान्ति का द्योतक है और द्वितीयाक्षर माया, भ्रान्ति का नाश करने वाला है। इसलिये गुरु देव की कृपा से ही माया, भ्रान्ति का भेद समझा

जा सकता है तथा इन्हीं की कृपा से माया, भ्रान्ति का नाश भी किया जा सकता है।।२४।।

एवं गुरु पदं श्रेष्ठं, देवानामपि दुर्लभम्।
हा हा हू हू गणैश्चैव, गन्धर्वैश्च प्रपूज्यते।।२५।।

अर्थ— इस प्रकार गुरुपद अत्यन्त श्रेष्ठ है, जो देवताओं के लिये भी बड़ा दुर्लभ है। गन्धर्वों के नायक हा-हा हू-हू तथा उनके पूरे समूह के लिये भी गुरुपद पूजनीय है। अर्थात् - बिना गुरु के गान विद्या में भी निपुणता प्राप्त नहीं होती।।।२५।।

व्याख्या— व्याख्या में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि जहाँ भी स्वर में संगीत का आभास हो (दर्शन हो) चाहे वह, शक्तिपात के कारण स्वयं स्फूर्त संगीत ही क्यों न हो उसका कारण गुरु कृपा ही है।।२५।।

ध्रुवं तेषांच सर्वेषां, नास्तितत्त्वं गुरोः परम्।
आसनं शयनं वस्त्रं, भूषणं वाहनादिकम्।।२६।।

साधकेन प्रदातव्यं, गुरु सन्तोष कारकम्।
गुरोराराधनं कार्यं, स्व जीवित्वं निवेदयेत्।।२७।।

अर्थ— गुरु से बढ़कर कोई तत्त्व नहीं है, इसलिये आसन, शयन सामग्री, वस्त्र, आभूषण, वाहनादि गुरुदेव के सन्तोष के लिए शिष्यों को (साधकों को) गुरुसेवा में अर्पित करना चाहिये। क्योंकि ये सब वस्तुएं नाशवान् (अध्रुव) हैं। केवल गुरुपद ही अविनाशी (ध्रुव) है, अतः इन नाशवान् वस्तुओं को गुरु सेवा में लगाने से, इन वस्तुओं के प्रति आसक्ति एवं ममत्व का भाव का नाश होगा और स्थूल समर्पण से भाव बनता है, अभिमान का नाश होता है।।२६-२७।।

व्याख्या— स्थूल वस्तुओं के समर्पण से मात्र इतना भाव ग्रहण करना चाहिये कि स्थूल वस्तुओं से हमारी गाढ़ प्रीति होती है, और उनका उपयोग हम अपने स्वार्थ में ही सर्वदा करते रहते हैं, गुरुदेव को इन वस्तुओं के अर्पण से समष्टि भावना का विकास होता है, गुरुदेव इन, भेट में दी गई वस्तुओं को, समष्टि में वितरण कर देते हैं। अतः सामाजिकता के मूलभूत सिद्धान्त का निर्वाह भी हो जाता है।।२६-२७।।

कर्मणा मनसा वाचा नित्यं-आराधयेत् गुरुम्।
दीर्घ दण्डं नमस्कृत्य, निर्लज्जो गुरु सन्निधौ।।२८।।

शरीरमिन्द्रियं प्राणं, सद्गुरुभ्यो निवेदयेत्।
आत्मदारादिकं सर्वं, सद्गुरुभ्यो निवेदयेत्।।२९।।

अर्थ— मन, कर्म, वचन से नित्य गुरुदेव की आराधना करना एवं सब लज्जा छोड़कर गुरुदेव को साष्टाङ्ग दण्डवत् पूर्वक प्रणाम करना चाहिये। अपने शरीर, इन्द्रिय, प्राण, सब सद्गुरु को निवेदन करना चाहिये, अपनी स्वयं की पत्नी को गुरु सेवा में लगाना चाहिये, इस प्रकार अपने शरीर के सब अङ्गो का तथा पत्नी के निवेदन का अर्थ होता है भावनात्मक निवेदन, स्थूल समर्पण की बात पिछले २६ २७ वें श्लोक में आई है, इन श्लोकों में भावनात्मक समर्पण की चर्चा की गई है।। २८-२९ ।।

व्याख्या— अठ्ठाईसवें श्लोक में दण्डवत् प्रणाम की चर्चा है। दण्डवत् का अर्थ होता है प्रत्येक अङ्गों द्वारा समर्पण की भावना से "नमन"। इस श्लोक में मन से स्मरण,वाणी से स्तुति और कर्म से सेवा करने का संकेत है। उन्तीसवें श्लोक में भावनात्मक समर्पण का प्रकार बताया है। इसकी संक्षिप्त व्याख्या श्लोकार्थ में आ चुकी है। यहाँ इतना ही समझने का है कि स्थूल समर्पण दिखावटी, अभिमान बढ़ाने वाला, और कभी-कभी पतन का कारण भी होता है, किन्तु भावनात्मक समर्पण, शुद्ध सात्विक, अभिमान को दूर करने वाला एवं पवित्र माना गया है। ॥ २८-२९ ॥

कृमि कीट भस्म विष्ठा, दुर्गन्धी मल मूत्रकम् ।
श्लेष्म रक्तं त्वचा मासं, वञ्चयेन्न वरानने ।। ३० ।।

अर्थ— हे वरानने ! कृमि, कीट, भस्म, विष्ठा, दुर्गन्धित मल-मूत्र, कफ, रक्त, त्वचा मांस, इनको भी बचाकर नहीं रखना चाहिये।

व्याख्या— अर्थात् जब पूरा शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ, आदि सब गुरुदेव को निवेदित कर दिया, तो उनके उत्पन्न होने वाले विकारों पर भी गुरुदेव का ही अधिकार होगा। यदि इन विकारों को घृणित समझ कर अर्पण की भावना नहीं, रखोगे, तो पूर्ण समर्पण का भाव नहीं बनेगा, प्रकारान्तर से यह भी भावनात्मक समर्पण का ही एक स्वरूप है, इसके अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण बात और है सारा संसार गुरुशक्ति का विस्तार है, संसार की शुभ अशुभ अच्छी-बुरी सब वस्तुएँ गुरु शक्ति का ही स्वरूप है। अंतः इन घृणित वस्तुओं के समर्पण में भी वही भाव रखना चाहिये कि "**त्वदीय वस्तु गोविन्दतुभ्यमेव समर्पये**" आपकी दी हुई वस्तु आपको ही समर्पित है, इस प्रकार भावनात्मक पूर्ण समर्पण का भाव बन जाता है।। ३० ।।

संसार वृक्षमारुढाः पतन्तो नरकार्णवे ।
येन चैवोद्धृताः सर्वे, तस्मै श्री गुरवे नमः ।। ३१ ।।

अर्थ— संसार रूपी वृक्षपर चढ़े हुए, नरक रूपी समुद्र में गिरे हुए सब प्राणियों का जो उद्धार करते हैं, ऐसे श्री गुरुदेव को प्रणाम है।। ३१ ।।

व्याख्या— वृक्ष पर चढ़ गये और उतरने की कला **याद न हो** तो, एक समस्या खड़ी हो जाती है। इसी प्रकार तैरना याद न हो, और किसी जल राशि में गिर गये हों तो, जब कोई उद्धारकर्ता नहीं मिलता, तब तक वृक्ष पर से उतरना तथा जल राशि से बाहर आना, दोनों अशक्य है। यहाँ गुरुदेव को संसार रूपी वृक्ष पर आरुढ़ तथा नरक रूपी समुद्र में गोते लगाने वाले जीव का उद्धारकर्ता बतला कर प्रणाम किया है।। ३१ ।।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु र्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुरेव पर ब्रह्म, तस्मै श्रीगुरवे नमः ।। ३२ ।।

अर्थ— गुरु ही ब्रह्मा है, गुरु ही विष्णु है, गुरु ही शंकर है, एवं गुरु ही परब्रह्म है, अतः उन्हें प्रणाम है।

व्याख्या— इस श्लोक में गुरुदेव को ब्रह्मा, विष्णु, महेश और परब्रह्म इन चार रूपों में वर्णित करते हुए गुरुदेव को प्रणाम किया गया है। अर्थात् गुरु स्रष्टा भी होता है। पालक भी होता है, और अज्ञान राशि का नाशक होने के कारण, संहारक (शिव) की भूमिका का भी सम्पादन करता है एवं पर ब्रह्म के रूप में संसार सागर से पार लगाता है, इसी कारण उद्धारक भी माना गया है, किन्तु एक महत्त्व पूर्ण बात का हम यहाँ स्पष्टीकरण कर देना चाहते हैं कि ये तीनों देवता तथा इनमें निहित शक्ति, सब चैतन्य महाशक्ति द्वारा ही अनुप्राणित हैं।। ३२ ।।

हेतवे जगतामेव, संसारार्णव सेतवे !
प्रभवे सर्व विद्यानां, शंभवे गुरवे नमः ।। ३३ ।।

अर्थ— जो गुरुदेव, जगत् के हेतु हैं, संसाररूपी सागर को पार करने को सेतु के समान हैं, और सब विद्याओं के जनक (पिता) हैं। उन शिव रूप गुरुदेव को प्रणाम है।

व्याख्या— इस संसार को सागर की उपमा दी गई है, और जहाँ सागर हो, उसे पार करना हो, तो सेतु या नौका की आवश्यकता होती है। यहाँ गुरुदेव को संसार सागर को पार करने के लिये सेतु की उपमा दी गई है। सब विद्याओं के उत्पत्ति स्थान होने के कारण उन्हें "शम्भवे गुरवे नमः" कह कर गौरव प्रदान किया गया है "**शम्भव**" का अर्थ होता है कल्याण के आदि कारण।। ३३ ।।

अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन शलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः ।। ३४ ।।

अर्थ— अज्ञान रूपी अन्धकार के कारण, जो अपनी नेत्र ज्योति खो चुके हैं, उन्हें ज्ञान रूपी अंजन शलाका के प्रयोग से, जिन्होंने दृष्टि प्रदान की, उन गुरुदेव को प्रणाम है।। ३४।।

व्याख्या— नेत्र रोगों में अन्धत्व एक अभिशाप है और जिसको अन्धत्व प्राप्त हो जाता है, वह पराधीन हो जाता है। यहाँ अज्ञान रूपी तिमिर (अन्धकार) के कारण जो अन्धत्व जीव में आ गया है, उसे गुरुदेव अपनी ज्ञान रूपी **''अंजन शलाका''** के प्रयोग से अन्धत्व का नाश कर देते हैं, विवेकरूपी चक्षु को दृष्टि प्रदान कर कृतकृत्य कर देते हैं। इसी भाव को लेकर गुरुवन्दना की गई है।।३४।।

त्वं पिता त्वंच मे माता, त्वं बन्धुस्त्वं च देवता।
संसार प्रति बोधार्थं, तस्मै श्रीगुरवे नमः।। ३५।।

अर्थ— (साधकों को प्रार्थना करनी चाहिये) हे गुरुदेव! आपही हमारे माता-पिता हैं, आपही हमारे बन्धु हैं, आपही हमारे देवता हैं, संसार को समझने के लिये आपही बोधदाता हैं। ऐसे आप गुरुदेव को प्रणाम है।। ३५।।

व्याख्या— संसार में माता-पिता, बन्धु, और देवता तथा गुरु ये सब संसार से व्यवहार करने का ज्ञान प्रदान करते हैं। यहाँ, इन सब भावों को गुरुदेव में भावना करके प्रणाम करने का निर्देश दिया गया है।। ३५।।

यत्सत्येन जगत् सत्यं, यत् प्रकाशेन भाति तत्।
यदानन्देन नन्दन्ति, तस्मै श्रीगुरुवे नमः।। ३६।।

अर्थ— जिनके अस्तित्व से जगत् का अस्तित्व सिद्ध होता है, जिनके प्रकाश से यह जगत् प्रकाशित है, तथा जिनके आनन्द से, जगत् में भी आनन्द की अनुभूति होती है, उन गुरुदेव के लिये प्रणाम है।। ३६।।

व्याख्या— इस श्लोक में गुरुदेव को सत्-चित्-आनन्द, स्वरूप मान कर प्रणाम किया गया है। जिनमें स्थित सत्य (सत्) भाव से, जगत् में सत्यता का बोध होता है। जिनके प्रकाश से (चित् शक्ति से) यह जगत् प्रकाशित होता है और जिनके आनन्द भाव से जगत् में आनन्द की अनुभूति होती है। उन ''सच्चिदानन्द'' स्वरूप गुरुदेव को प्रणाम है।। ३६।।

यस्य स्थित्या सत्यंमिदं, यद् भाति भानु रूपतः।
प्रियं पुत्रादि यत् प्रीत्या, तस्मै श्रीगुरुवे नमः।। ३७।।

अर्थ— जिनकी स्थिति से यह सब कुछ सत्य दिखाई देता है, जिनकी स्थिति रूपी प्रकाश से सूर्य भी प्रकाशित होता है, जिनके प्रेम स्वरूप से हम पुत्रादि प्रिय जनो में प्रीति की अनुभूति करते हैं, उन गुरुदेव को प्रणाम है।। ३७ ।।

व्याख्या— इस श्लोक में गुरुदेव को, स्थिति, भाति, और प्रीति इन विशिष्ट भावों के रूप में स्मरण करते हुये प्रणाम किया है, उनकी "**स्थिति**" से जगत् की सत्यता का बोध होतां है, उनकी "**भाति**" शक्ति से सूर्य प्रकाशित होता है, उनकी "**प्रीति**" शक्ति से अपने प्रिय जनों में प्रीति की अनुभूति होती है।। ३७।।

येन चेतयते हीदं, चित्तं चेतयते न यम् ।
जाग्रत स्वप्न सुषुप्त्यादि, तस्मै श्रीगुरुवे नमः।। ३८ ।।

अर्थ— जिनके कारण, यह जड़ संसार चेतन दिखाई देता है, जिन से चित्त भी, चेतनता को प्राप्त होता है, चित्त, गुरुदेव को चेतनता प्रदान नहीं करता और जिनके प्रभाव से जगत् की तीन-अवस्था जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति का संचालन होता है, उन गुरुदेव को प्रणाम है।। ३८ ।।

व्याख्या— यहाँ गुरुतत्त्व में चेतन तत्त्व का निरूपण किया गया है। संसार तो वैसे जड़ माना गया है, किन्तु, चेतन दिखाई देता है, यह गुरुदेव में स्थित चित् शक्ति का प्रभाव है। चित्त भी जड़ माना गया है, सामान्य व्यक्तियों को चित्त से ही चेतनता का बोध होता है, किन्तु चित्त में चेतनता प्रदान करने की शक्ति, गुरुतत्त्व में स्थित चित् शक्ति ही है। दूसरी पंक्ति में जाग्रत-स्वप्न सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं में, जो चेतना शक्ति बनी रहती है, उसका कारण भी गुरुतत्त्व की परम् चेतना शक्ति का प्रभाव है।। ३८ ।।

यस्य ज्ञानादिदं विश्वं, न दृश्यं भिन्न भेदतः ।
सदेक रूप रूपाय, तस्मै श्रीगुरुवे नमः ।। ३९ ।।

अर्थ— गुरु तत्त्व में स्थित ज्ञान शक्ति के प्रभाव से ही जो दृश्य दिखाई देता है, उससे भिन्न स्थिति में सारे विश्व का दर्शन करने की स्थिति प्राप्त होती है, इसलिये विश्व और गुरु तत्त्व भिन्न नहीं हैं, एक रूप हैं,इस कारण उन्हें सदा एक ही रूप में मान्यता प्रदान करते हुए प्रणाम किया गया है।। ३९ ।।

व्याख्या— इस श्लोक में गुरु के अद्वैत स्वरूप का वर्णन किया गया है। जिनकी सत्ता से इस विश्व में भिन्नता का बोध समाप्त हो कर अभेद अवस्था उत्पन्न होती है, जो सदा एक रूप हैं, उन गुरुदेव को प्रणाम हैं।। ३९ ।।

यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः ।
अनन्य भाव भावाय, तस्मै श्रीगुरुवे नमः ।। ४० ।।

अर्थ— संसार की मान्यता के विरुद्ध जिनका मत है, और उस मत (मान्यता) को वह (संसार) नहीं जानता, इस प्रकार अनन्य (अद्वैत) भाव से भावित गुरु देव को प्रणाम है।। ४० ।।

व्याख्या— इस श्लोक में गुरुदेव के स्वरूप का तथा उनकी मान्यता का वर्णन करते हुए अद्वैत स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। गुरु दृष्टि से सिद्ध मत, संसार की दृष्टि से सिद्ध मत के बिल्कुल विरुद्ध है, अतः संसार को उस, अद्वैत-दर्शन का बोध नहीं होता, क्योंकि संसार का काम बिना द्वैत भावना के चलता ही नहीं और गुरु तत्त्व तो अद्वैत स्वरूप ही हैं,अतः अद्वैत स्वरूप गुरुतत्त्व को प्रणाम किया गया है।। ४० ।।

यस्य कारण रूपस्य,कार्य रूपेण भाति यत् ।
कार्य कारण रूपाय, तस्मै श्रीगुरुवे नमः ।। ४१ ।

अर्थ— यहाँ गुरुदेव को कारण रूप होते हुए, कार्य रूप में प्रकाशित होने वाला तत्त्व मानते हुए, कार्य-कारण दोनों को ही गुरु देव का स्वरूप मान कर प्रणाम किया है।। ४१ ।।

व्याख्या— सारा संसार कार्य है और इस संसार का कारण (हेतु) गुरु तत्त्व है, और "गुरुतत्त्व-शक्ति" से ही कार्य कारण का अस्तित्व है, उसी तत्त्व के द्वारा सारे संसार की गति-विधि का संचालन होता है।। ४१ ।।

नाना रूपमिदं सर्वं, न केनाप्यऽस्ति भिन्नता ।
कार्य कारणता चैव, तस्मै श्रीगुरुवे नमः ।। ४२ ।।

अर्थ— जगत् में जो विभिन्न नाम रूप दिखाई देते हैं; उनमें कहीं भी भिन्नता नहीं है (उनमें मात्र कार्य- कारण का ही भेद है) जो इस अभेद का ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष दर्शन करा देते हैं ऐसे उन गुरुदेव को प्रणाम है।। ४२ ।।

व्याख्या— यह सारा संसार, चैतन्य महाशिक्त की तरंग मात्र है, जगत् में सर्वत्र चैतन्य का ही प्रसार है। जगत् में जड़ नाम की कोई वस्तु ही नहीं है, जड़ भी चैतन्य की ही एक स्थिति है। तन्त्र शास्त्र में जिसे शक्ति का संकोचन कहा जाता है, उस स्तर पर पहुँचने पर बुद्धि की कार्यशीलता का लोप हो जाता है, चैतन्य स्पन्दित अथवा आन्दोलित होकर नाना रूप धारण करता है, उन उदित रूपों के नाना प्रकार के नाम भी पड़ जाते हैं और इस प्रकार यह नाम रूपात्मक जगत्

प्रतिभासित होने लगता है। जिस प्रकार समुद्र की तरंगें समुद्र से भिन्न नहीं हैं। फिर भी उनका नाम व स्वरूप भिन्न माना जाता है और सर्व प्रथम तरंगें ही दिखाई देती हैं। उसी में दर्शक खो जाता है। समुद्र का अस्तित्व गौण हो जाता है। उसी प्रकार ''जीव-जगत्'' भी जगत् में इतना खो जाता है कि उसे जगत् में नाम और रूप ही दिखाई देते हैं। संसार का आधार भूत तत्त्व, चैतन्य गौण हो जाता है और जीव-जगत् उस चैतन्य तत्त्व को भूल जाता है, एवं जगत् में आसक्त होकर काम करता रहता है, इससे जगत् के संस्कार संचित हो जाते हैं, जो बन्धन के कारण होते हैं।

समुद्र जल के समान चैतन्य कारण है और तरंगों के समान यह नाम रूपात्मक जगत् ''कार्य'' है। यह तथ्य बौद्धिक स्तर पर समझने का नहीं है, अपितु अनुभव करने का है और वो अनुभव बिना गुरु कृपा के प्राप्त नहीं होता, मनुष्य कितना भी पूजा, पाठ, चिन्तन, मनन, ध्यान, उपासना करे, बिना गुरुदेव के सहयोग के सब व्यर्थ हो जाता है। गुरुदेव के द्वारा 'शक्तिपात' प्रक्रिया से जब शक्ति जागृत होकर अन्तर्मुखी हो जाती है तब जगत् के नाम रूपात्मक संस्कार, क्रियाओं के माध्यम से क्षीण होकर चित्त शुद्धि के साथ ही शक्ति सर्व व्यापकता का बोध प्रदान करती हैं।। ४२।।

यदंघ्रि कमल द्वंद्वं, द्वन्द्वताप निवारकम्।
तारकं सर्वदाऽऽपद्भ्यः श्रीगुरुं प्रणमाम्यहम्।। ४३।।

अर्थ— जिनके चरण ''कमल द्वय'' संसार के नाना प्रकार के द्वंद्व, तापों का निवारण करते हैं, अर्थात् सुख-दुःख, शीत-उष्ण, मान-अपमान, इनसे उत्पन्न तापों (कष्टों) का निवारण करते हैं। तथा सब प्रकार की आपत्तियों से रक्षा करते हैं, ऐसे गुरु देव को मैं प्रणाम करता हूँ।। ४३।।

व्याख्या— गुरुदेव के चरण कमल ''शिवशक्त्यात्मक'' हैं, उनमें शिव-शक्ति संयुक्त रूप से सतत प्रवाहित होती रहती हैं, उनकी कृपा से ही शक्ति की जाग्रति हो कर अन्तर्मुखता प्राप्त होती है और क्रियाशील होने पर जगत् की अनुकूलता प्रतिकूलता उसे प्रभावित नहीं करती, चित्त में समता और स्थिरता आती है, रजोगुण का शमन होता है, संचित संस्कार क्षीण होते हैं। इस प्रकार साधक पर द्वंद्वों का प्रभाव नहीं होता तथा आने वाली अनेक आपत्तियों से उसकी रक्षा हो जाती है।। ४३।।

शिवे क्रुद्धे गुरु स्त्राता गुरौ क्रुद्धे शिवो न हि।
तस्मात् सर्व प्रयत्नेन, श्रीगुरुं शरणं व्रजेत्।। ४४।।

अर्थ— यदि किसी कारण भगवान् शिव क्रोधित हो जाय तो गुरु शिष्य की रक्षा करने में समर्थ हैं, किन्तु यदि गुरु क्रुद्ध हो जांय तो शिव भी रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं (भगवान् शिव ने अपने सब अधिकार गुरुदेव को दे दिये हैं) अतः प्रयत्न पूर्वक गुरुदेव की शरण ग्रहण करना चाहिये।। ४४ ।।

व्याख्या— पूर्वोक्त श्लोक में गुरुदेव के महत्त्व का प्रतिपादन हुआ है। वास्तव में तो शिव और गुरु दोनों एक ही हैं, केवल साधक की श्रद्धा को दृढ़ करने के लिये ही शिव और गुरु की भिन्नता बतलाई गई है। शिव और गुरु की भिन्नता का भाव शिष्यों के लिये भी हानिकारक ही माना गया है।यहाँ शिष्य के श्रद्धा भक्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि के लिये, यह उदाहरण दिया गया है। यहाँ राम चरित मानस के एक उदाहरण से विषय को और समुचित रूप से समझा जा सकता है- "एक शिष्य ने गुरु का अपमान कर दिया था तो भगवान् शंकर उस पर क्रोधित हो उठे और उसका संहार करने को उद्यत हुए, तब उस शिष्य के गुरुदेव ने ही, दयालु होकर भगवान् शंकर की स्तुति की, तब भगवान् शिव प्रसन्न हुए और शिष्य का अपराध क्षमा किया। अतः प्रयत्न पूर्वक गुरु शरणागति ही शिष्य का उद्धार कर सकती है।

वन्दे गुरु पद द्वंद्व, वाङ्मनश्चित्तगोचरम्।
श्वेत रक्तप्रभा भिन्नं, शिव शक्त्यात्मकं परम्।। ४५ ।।

अर्थ— मैं उन गुरु चरणों में प्रणाम करता हूँ जो वाणी, मन एवं चित्त द्वारा गोचर हैं। (अर्थात् दिखाई देते हैं) श्वेत और रक्त (सफेद और लाल) इन दोनों प्रभा से भिन्न हैं एवं परम् शिव , शिव-शक्ति रूप से विराजमान हैं।(यहाँ शिव को श्वेत प्रभा वाला तथा शक्ति को अरुण (लाल) प्रभा से मण्डित किया गया है, जब शिव-शक्ति मिल जाते हैं तो दोनों आभा मिलकर एक निश्चित आभा को जन्म देती हैं, जो शिव-शक्ति का सम्मिलित रूप हैं।। ४५ ।।

व्याख्या— गुरुदेव के चरण द्वय हमारे वाणी, मन, चित्त के द्वारा अनुभव में आनेवाले हैं। (नेत्र से दिखाई देते हैं) अतः वाणी द्वारा उनकी बन्दना कर सकते हैं, मन और चित्त को उन चरणों में लगा सकते हैं, यद्यपि गुरु चरणों में छिपी गुरुतत्त्व-शक्ति, अगोचर है, जो चैतन्य, परम् तत्त्व से सदैव अनुप्राणित रहती है।

आगे गुरु चरणों की महिमा का वर्णन करते हुए उन्हें शिव-शक्ति के सम्मिलित स्वरूप का द्योतक माना गया है, जब ये भिन्न होते हैं, तो शिव का स्वरूप रजताभ्र (श्वेत) माना गया है तथा शक्ति का अरुणाभायुक्त माना है। जब शिव-शक्ति मिल जाते हैं तो दोनों वर्ण भी मिल जाते हैं और एक तीसरे प्रकार की आभा के

दर्शन होते हैं, उसी मिश्रित आभा की उपमा गुरुदेव के चरणों को देकर शिव-शक्त्यात्मक स्वरूप की दिव्यता की कल्पना गुरु चरणों में की गई है।।४५।।

गुकारं च गुणातीतं, रुकारं रूप वर्जितम्।
गुणातीत स्वरूपं च, यो दद्यात् स गुरुः स्मृतः ।। ४६ ।।

अर्थ— गुरु शब्द में **''गु''** कार अक्षर गुणातीत का बोधक है और **''रु''** कार रूपातीत का बोधक है, ऐसे जो गुणातीत और रूपातीत स्वरूप के प्रदाता हैं, उन्हें गुरु कहा जाता है।। ४६ ।।

व्याख्या— श्रीगुरु शक्ति, सत्व, रज, तथा तम इन तीनों से अतीत है, बाकी सारा जगत् त्रिगुणात्मक है, माया के आधीन है। गुरु शक्ति का कोई रूप भी नहीं है, वह निराकार, गुणातीत, रूपातीत है। यही स्वरूप परब्रह्म परमेश्वर का भी कहा जाता है, अतः गुरु एवं परब्रह्म एक ही हैं, जब परब्रह्म शिष्यों के कल्याण के लिये तत्पर होता है, तो उसे ही श्रीगुरु कहा जाता है। जब वह गुरु शक्ति किसी मनुष्य शरीर में जाग्रत व प्रकाशित होती है तब उसे ही सद् गुरु कहा जाता है।वही गुरु-शक्ति मंगलमयी बनकर शिष्यों में जाग्रत व प्रकाशित हो उठती है, इसेही यहाँ गुणातीत स्वरूप का दान समझना चाहिये। गुरु शक्ति ही जाग्रत होने पर संस्कारों को क्षीण करती है, विकारों को मिटाती है, चित्त को शुद्ध करती है, और शिष्य के चित्त पर से अविद्यादि पंच क्लेशों को दूर करती है। चित्त शुद्ध हो जाने पर नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा का अन्तर में ज्ञान होता है। आत्मा के निराकार एवं गुणातीत स्वरूप का बोध होता है, तब नाना नाम रूपात्मक जगत् विलीन हो जाता है। जब पुनः व्युत्थान दशा आती है, तब जगत् का ज्ञान होता है, इसके बाद जगत् का मिथ्यात्त्व स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार के बोध देने वाले ही सद्गुरु कहलाने के अधिकारी हैं, शेष तो मिथ्या गुरु की सीमा में ही आते हैं ।। ४६ ।।

अ-त्रिनेत्रः सर्व साक्षी, अ-चतुर्बाहुरच्युतः ।
अ-चतुर्वदनो ब्रह्मा, श्रीगुरु कथितः प्रिये ।। ४७ ।।

अर्थ— हे प्रिये (पार्वती) ! बिना तीन नेत्र के जो सर्व साक्षी शिव का स्वरूप हैं, बिना चार हाथ के जो भगवान् विष्णु हैं और बिना चार मुख के जो चार मुख वाले ब्रह्मा के समान हैं। ऐसे गुरु देव को ब्रह्मा विष्णु एवं शिव रूप कहा गया है।। ४७ ।।

व्याख्या— भाव यह है कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव, तीनों परब्रह्म की शक्ति के आधार पर ही, देवत्त्व धारण किये हुये हैं, उसी शक्ति के प्रभाव से सृजन, पालन,

संहार आदि कार्य करने में समर्थ होते हैं। प्रकारान्तर से, ये तीनों देवता उस शक्ति का ही स्वरूप हैं।

किन्तु यहाँ गुरुतत्त्व की शक्ति से विभूषित गुरुदेव को, इन तीनों देवताओं के प्रतीकात्मक चिह्नो के न होने पर भी इन तीनों देवताओं की सम्मिलित शक्ति का प्रतीक मान कर स्तुति की गई है। वैसे गुरु शक्ति का क्षेत्र इतना व्यापक है, कि जगत के जितने प्राणी हैं, उनकी इन्द्रियाँ तथा मन आदि की सभी क्रियायें, इस गुरुशक्ति के द्वारा ही कार्य करने में समर्थ होती हैं। भगवान् शंकर की उपमा देते हुए यहाँ गुरुदेव को सर्वसाक्षी के विशेषण से विभूषित किया गया है। सब प्राणियों के जितने भी कार्य-कलाप हैं, इसी गुरुशक्ति से संचालित होने के कारण उन सब कार्य कलापों के साक्षी भी वे ही गुरु देव हैं। यहाँ भगवान् विष्णु के स्थान पर ''**अच्युत**'' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ होता है ''**जिसे कोई शक्ति, अपने स्थान से च्युत नहीं कर सकती अर्थात् हटा नहीं सकती**'' ब्रह्मा, जिस प्रकार सृजन कार्य करते हैं, उसी प्रकार गुरु देव भी साधकों का निर्माण करते हैं, अतः ब्रह्मा हैं।। ४७।।

अयं मयाञ्जलिर्बद्धो, दया सागरवृद्धये।
यदनुग्रहतो जन्तुश्चित्रसंसार मुक्तिभाक्।। ४८।।

अर्थ— अपनी सर्वतोमुखी वृद्धि (उन्नति) के लिये दयासागर इन गुरु देव की बद्धाञ्जलि होकर (प्रार्थना- करना चाहिये कि हे दया सागर ! आप मेरी साधना की वृद्धि में सहायक हों।) प्रणाम करना चाहिये। जिनके अनुग्रह प्राप्ति के बाद प्राणी इस चित्र (विविधता से भरा हुए) संसार से मुक्ति का भागी बनता है।। ४८।।

व्याख्या— गुरुदेव तो दया के सागर होते ही हैं। उनका प्राकट्य ही शिष्यों के कल्याण के लिये होता है, किन्तु शिष्यों को उनके समक्ष बद्धाञ्जलि होकर, अर्थात्- विनम्रता पूर्वक श्रद्धा सहित प्रणाम की मुद्रा में प्रस्तुत होना चाहिये। बद्धाञ्जलि का एक अर्थ और लिया जा सकता है,जब तक खुले हाथ होते हैं द्वैत का प्रतीक है, और जब दोनों हाथ मिल जाते हैं, तो अद्वैत भाव की मुद्रा बन जाती है, जिसका अर्थ होता है कि संसार के प्रति मेरी जो द्वैत भावना है, उसका आप नाश कर दें।

''**चित्र संसार मुक्ति भाक्**'' का अर्थ होता है कि यह संसार नाना प्रकार की विविधता से युक्त होने के कारण चित्र की भाँति सब को अपनी ओर आकर्षित करता रहता है और इस प्रकार नाना प्रकार के संस्कारों को जन्म देता है, जो बन्धन के कारण होते हैं एवं इसी कारण आवागमन के चक्र से मुक्ति नहीं मिल पाती।

यहाँ गुरु शक्ति के अनुग्रह प्राप्ति की प्रार्थना करते हुए, संचित संस्कारों के क्षीण करने हेतु एवं अपने अभ्युदय के लिये प्रार्थना कर रहा है। मुक्ति की याचना कर रहा है।

श्री गुरो : परमं रूपम्, विवेक चक्षुषोऽमृतम्।
मन्दभाग्या न पश्यन्ति अन्धाः सूर्योदयं यथा।। ४९।।

अर्थ— श्रीगुरु के परम् अमृतमय स्वरूप का बोध विवेक चक्षु द्वारा ही हो सकता है (विवेक भी गुरु कृपा से प्राप्त होता है) विवेकहीन व्यक्ति, उस अमृतमय परम् स्वरूप को देखने में समर्थ नहीं हो सकते, जैसे अन्धव्यक्ति को सूर्य दर्शन असम्भव है, इसी कारण उन्हें मन्द भागी कहा गया है।। ४९।।

व्याख्या— गुरु का स्वरूप यहाँ परम् कहा गया है, परम् का अर्थ परे है। अर्थात् माया से परे। जिसमें जगत् का अथवा जगत् की कामना व वासना का समावेश नहीं होता। श्रीगुरु मायातीत, गुणातीत निराकार एवं अव्यक्त है दूसरे शब्दों में कहें तो, परब्रह्म परमात्मा ही गुरु हैं। उसी की शक्ति जब किसी मनुष्य शरीर में अवतरित, जागृत, एवं प्रकाशित होती है तो "गुरु" कहलाती है। गुरु के इस परम अमृतमय स्वरूप के दर्शन करने के लिये शुद्ध चित्त एवं विवेक चक्षुओं की आवश्यकता होती है, जो चक्षु, गुरुकृपा से ही प्राप्त होते हैं। गुरु शक्ति, वासनाओं, विकारों, अविद्या आदि पंच क्लेशों को, क्रिया शक्ति के माध्यम से दूर हटाती है। साधक का अपना विवेक केवल बौद्धिक होता है, गरुदेव द्वारा प्रदत्त विवेक अनुभव युक्त होने के कारण श्रेष्ठ है।

यहाँ विवेकहीन व्यक्तियों की उपमा अन्ध व्यक्तियों से देकर विवेक को सूर्य की उपमा देकर समझाने का प्रयास किया गया है कि, जैसे अन्ध व्यक्ति को सूर्य के प्रकाश का ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार विवेकहीन व्यक्ति गुरु देव के परम् अमृतमय रूप के दर्शन करने में असमर्थ होता है। यहाँ एक उदाहरण द्वारा विषय को और स्पष्ट किया जा रहा है जैसे चिमगादड़ और उल्लू नेत्र होते हुये भी दिन के प्रकाश को देखने में असमर्थ होते हैं, वैसे ही बिना विवेक के गुरु के परम् अमृतमय स्वरूप को समझना भी अशक्य है।। ४९।।

श्रीनाथ चरण द्वंद्वं, यस्यां दिशि विराजते।
तस्यै देशे नमस्कुर्याद् भक्त्या प्रतिदिनं प्रिये।। ५०।।

अर्थ— श्री नाथ का अर्थ भगवान् विष्णु होता है "**श्री है शक्ति जिनकी**" दूसरा अर्थ होता है गुरुतत्त्व की शक्ति से समन्वित "**गुरुवर्ग**" इनके चरण जिस दिशा में स्थित हों (या गुरु का आश्रम जिस दिशा में स्थित हो) उस दिशा में उस

देश-की दिशा में प्रतिदिन भक्तिपूर्वक प्रणाम करना चाहिये (हे पार्वती, भक्ति और श्रद्धा पूर्वक किया गया प्रणाम भावों को पवित्र बनाता है) ।। ५० ।।

व्याख्या— श्री गुरु शक्ति और उसका आधारभूत तत्त्व **''पर शिव''** सर्व व्यापक है। जगत् के कण-कण में व्याप्त है, सभी दिशाओं में वे (गुरुतत्त्व) विद्यमान हैं, अतः किसी दिशा विशेष का प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु यहाँ जो दिशा विशेष का संकेत है, यह प्राथमिक भूमिका वाले शिष्यों के लिये है, उनको वर्तमान गुरु के आश्रम की ओर गुरुपदों का चिन्तन करते हुये प्रणाम करके प्रतिदिन भक्ति पूर्वक अपनी साधना प्रारम्भ करना चाहिये। गुरुदेव के एक चरण में परशिव तथा दूसरे चरण में परा शक्ति का निवास है। अतः गुरु चरणों की सेवा से शिव-शक्ति दोनों की आराधना का फल मिल जाता है इस श्लोक में गुरुदेव के निवास स्थान के महत्त्व का प्रतिपादन हुआ है।। ५० ।।

तस्यै दिशे सततमञ्जलिरेष आर्ये —
प्रक्षिप्यते मुखरितो मधुपैर्बुधैश्च ।
जागर्ति यत्र भगवान् गुरु चक्रवर्ती
विश्वोदय प्रलय नाटक नित्य साक्षी ।। ५१ ।।

अर्थ— जहाँ भगवान् गुरु चक्रवर्ती जागते हुये, विश्व के उदय, प्रलय रूपी नाटक के नित्य साक्षी हैं, उस दिशा में सारग्राही विद्वत्-जन प्रसन्नता पूर्वक प्रणामाञ्जलि समर्पित करते हैं।। ५१ ।।

व्याख्या— इस श्लोक में गुरु देव को भगवान् और चक्रवर्ती इन दो विशेषणों से सम्बोधित किया गया है।

भगवान् का अर्थ होता है, सम्पूर्ण-ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण वैराग्य, सम्पूर्ण ज्ञान, इन छः विभूतियों को **''भग''** कहा जाता है, इन छः विभूति सम्पन्न को भगवान् कहते हैं। गुरु तत्त्व भी इन छः विभूतियों से सम्पन्न है।

अखण्ड साम्राज्य के अधिनायक को चक्रवर्ती कहते हैं। यहाँ चक्रवर्ती से सर्व व्यापक सत्ता को ग्रहण करना चाहिये।

इसी श्लोक की चतुर्थ पंक्ति में गुरु तत्त्व को विश्व के प्रलय, उदय रूपी नाटक का साक्षी कहा गया है।

गुरु शक्ति चैतन्य रूप से सर्वत्र विद्यमान है यदि हम यह कहें कि सारा दृश्य जगत् ही गुरु शक्ति की परिणति मात्र है, तो अतिशयोक्ति नहीं है। अनन्त सृष्टि

निर्माण करने की शक्ति है ''**गुरु-तत्त्व**'' में। जिस प्रकार हम नाटक देखते हैं, उसी प्रकार गुरु शक्ति इस विश्व के उदय और प्रलय की द्रष्टा है अतः एव साक्षी भी है। जगत् में वेद मंत्रों का उच्चारण हो, अथवा खून की नदियाँ बहें, उस शक्ति के द्रष्टा भाव में अन्तर नहीं आता। अतः विद्वत् वर्ग द्वारा उसी शक्ति का अभिनन्दन किया जाता है और उसे ही अपनी प्रणमाञ्जलि अर्पित करते हैं।।५१।।

श्रीनाथादि गुरुत्रयं गणपतिं पीठत्रयं भैरवम्
सिद्धौघं बटुक त्रयं पदयुगं दूतित्रयं शाम्भवम्।
वीरेशाष्ट चतुष्क षष्टि नवकं वीरावली पंचकम्
श्रीमन्मालिनि मंत्र राज सहितं वन्दे गुरोर्मण्डलम्।। ५२।।

अर्थ— तीन, श्रीनाथ गुरु, गणपति, तीन पीठ, भैरव गण, सिद्धौघ (सिद्धों का समूह) तीन बटुक, दो पद, भगवान् शंकर की विभूति के रूप में तीन दुतियाँ, आठ वीरेश, ६४ योगिनी, नव सहायक योगिनियों की विभूति, पाँच वीरावली, तथा ''अं''-से-लेकर ''क्षं'' तक (सम्पूर्ण-स्वर-व्यञ्जन सहित, बिन्दु युक्त अक्षर माला) मालिनी मंत्र राज सहित ''गुरु मण्डल'' को प्रणाम है।

व्याख्या— इस श्लोक में वर्णित ''**गुरु मण्डल**'' किसी भी सम्प्रदाय का हो इस मण्डल में तेरह विभूतियों का वर्णन है, एक-एक-विभूति में अनेक-विभूतियों का वर्णन आया है। कई सम्प्रदाय के गुरु मण्डलों ने अपने-अपने सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार इस ''**गुरुमण्डल**'' का विस्तार के साथ वर्णन किया है। यहाँ हम अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत कर रहे हैं।

तीन गुरु- श्री गुरु, परम् गुरु, परात्पर गुरु,
गणपति- गणों के पति शिवपुत्र ''गणनायक''
तीन पीठ -श्री कामगिरी पीठ, श्रीपूर्णगिरी पीठ, श्री जालन्धर पीठ
भैरव- भैरव आठ है- मन्थान भैरव, षट्चक्र भैरव, श्री फट्कार भैरव, एकात्मक भैरव, रवि भक्ष्य भैरव, श्री चण्ड भैरव, श्री नभो निर्मल भैरव, श्री भ्रमर भास्कर भैरव।

दो पद हैं-१- श्री प्रकाश चरण,
२- श्री विमर्श चरण,

दूतीत्रय में - तीन दूतियाँ हैं, शिवदूती, चामुंडा और काली ये शंभुकृपास्वरूप दीक्षा देने वाली तीन दूतियाँ हैं।

आठ वीरेश हैं— सृष्टिवीर भैरव, स्थिति वीर भैरव, संहार वीर भैरव, रक्त वीर भैरव, यम वीर भैरव, मृत्यु वीर भैरव, भद्रवीर भैरव, परमार्क वीर भैरव, मार्तण्ड

वीर भैरव, कालाग्नि रुद्रवीर भैरव,
२ अन्तवाले दो वरिशों का भी कहीं कहीं उल्लेख मिलता है।

६४ योगिनी हैं— जो-कर्म काण्ड में प्रसिद्ध हैं। उनकी **नौ-** सहायक योगिनियों के नाम निम्न हैं। १- सर्व भक्षिणी २, सर्व विद्राविणी, ३, सर्वाकर्षिणी, ४, सर्व वंश-करी ५, सर्वोन्मादिनी ६, सर्व महाङ्कुशा, ७, सर्व खेचरी, ८, सर्वं बीजेश्वरी ९ सर्व योनि,

वीरावली पांच हैं— (१) श्री ब्रह्मा वीरावली (२) श्री विष्णु वीरावली, (३) श्री रुद्र वीरावली, (४) श्री ईश्वर वीरावली (५) श्री सदाशिव वीरावली

मालिनी मंत्रराज— मालिनी मंत्र से यहाँ पूरी स्वर माला एवं व्यञ्जन माला को ग्रहण करना चाहिये। प्रत्येक स्वर और व्यञ्जन पर अनुस्वार लगाने से माला मंत्र बन जाता है। पूरे मंत्र शास्त्र का समावेश इन बीजाक्षरों पर ही आधारित हैं।

इस प्रकार के विशाल दृष्टिकोणों से बनाया गया पूरा-''**गुरु मण्डल**'' पूरे तन्त्र शास्त्र का दर्शन है, अतः उस पूरे ''**गुरु मण्डल,**'' के व्यापक तत्त्वों को प्रणाम किया गया है।

अभ्यस्तैः सकलैः सुदीर्घमनिलै र्व्याधिप्रदै र्दुष्करैः
प्राणायाम शतैरनेक करणैः दुःखात्मकैर्दुजयैः।
यस्मिन्नभ्युदिते विनश्यति बली वायुः स्वयं तत् क्षणात्
प्राप्तुं तत्सहजं स्वभावमनिशं सेवध्वमेकं गुरुम्।। ५३।।

अर्थ— प्राणायामों के अनेक प्रकार हठ योग प्रक्रिया में बतलाये गये हैं, (आन्तरिक-कुम्भक, बाह्य कुम्भक, स्तम्भवृत्ति, या केवल कुम्भक, भस्त्रिका, शीतली, भ्रामरी, इत्यादि) प्राणायाम, अभ्यास साध्य हैं, दीर्घ कालतक करना पड़ता है और भी सैकड़ों प्राणायामों के प्रकार मिलते हैं, प्राण वायु को रोककर प्राणायाम की क्रिया दुःखदायी, बड़ी कठिनता से जीती जाने वाली और अनेक प्रकार की कठिन व्याधियों को उत्पन्न करने वाली हैं। (उपयुक्त अनुभवी मार्गदर्शक, के अभाव से) उपरोक्त सभी प्राणायामों की क्रियायें हानिकारक और नाना प्रकार के जटिल रोगों को उत्पन्न करने वाली होती हैं। अतः यहाँ साधक को सावधान किया है कि (हे साधक!) सहज, स्वाभाविक प्राप्त एक मात्र गुरुदेव की रात दिन सेवा करें।। ५३।।

व्याख्या— इस श्लोक के शब्दार्थों मे बहुत कुछ व्याख्या हो चुकी है, अब यहाँ केवल एक बात समझने की है, कि किसी शक्ति सम्पन्न गुरु की शरण ग्रहण कर ली जाय, तो उनकी प्रसन्नता प्राप्ति के बाद उन्हीं की कृपा से दुःसाध्य कार्य

सुसाध्य हो जाते हैं और सिद्धयोग के प्रभाव से शक्तिपात के बाद साधन में स्वतः ही प्राणायाम की क्रियायें अनायास रूप से होने लगती है, तथा प्राण निरोध एवं मनोनिरोध की अवस्था प्राप्त हो जाती है। अतः गुरु शरण ग्रहण करने में ही साधक का कल्याण है।। ५३ ।।

स्वदेशिकस्यैवशरीर चिन्तनम्
भवेदनन्तस्य शिवस्य चिन्तनम्।
स्वदेशिकस्यैव च नाम कीर्तनम्
भवेदनन्तस्य शिवस्य कीर्तनम्।। ५४ ।।

अर्थ— जब हम गुरुदेव के शरीर का चिन्तन कर ते हैं, अपने आप स्वतः शिव का चिन्तन हो जाता है और जब हम गुरु देव का नाम कीर्तन करते हैं, तो अपने आप स्वतः अनन्त शिव के नाम का कीर्तन हो जाता है।। ५४ ।।

व्याख्या— गुरुतत्त्व से प्रकाशित भौतिक गुरुदेव के शरीर का चिन्तन करने से भगवान् शिव का चिन्तन अपने आप हो जाता है अर्थात् यहाँ शिव और गुरुदेव के शरीर में अभेद दर्शन के सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। इसी प्रकार गुरुदेव के नाम कीर्तन से शिव कीर्तन का फल प्राप्त हो जाता है। यहाँ नाम के साथ अभेद दर्शन का प्रतिपादन करते हुये गुरु और शिव नाम की एकता का बोध कराया गया है।। ५४ ।।

यत् पाद रेणु कणिका, कापि संसार वारिधेः ।
सेतु बन्धायते नाथं, देशिकं तमुपास्महे ।। ५५ ।।

अर्थ— जिन गुरुदेव की चरण रज का एक कण भी संसार रूपी समुद्र को पार करने के लिये सेतु के समान है उन समर्थ गुरुदेव की हम उपासना करते हैं ।।५५।।

व्याख्या— यहाँ, गुरुपाद रज कण से एक विशेष अर्थ को ग्रहण करना चाहिये, गुरु प्रसाद रज कण वास्तव में गुरु कृपा के प्रसाद का ही अंश है।

गुरु-शिष्य में तादात्म्य स्थापित होनेपर शक्तिपात की प्रक्रिया सम्पन्न होती है, उससे जब शक्ति अन्तर्मुखी जागृत हो जाती है, तो शक्ति जागृत करनेवालां जो शक्ति का अंश है, वही "गुरुपाद रज कण है"। इस शक्ति के सामान्य अंश से भी संसार समुद्र को पार किया जा सकता है। इस शक्ति के प्रभाव से संस्कार क्षीण ह्वेते हैं, संसार के बन्धन कट जाते हैं- पाप राशि समाप्त हो जाती है, ऐसे समर्थ अपन्रे स्वामी गुरुदेव की हम उपासना करते हैं।। ५५ ।।

यस्मादनुग्रहं लब्ध्वा, महदज्ञानमुत्सृजेत् ।
तस्मै श्रीदेशिकेन्द्राय, नमश्चाभीष्ट सिद्धये । । ५६ । ।

अर्थ— जिनका अनुग्रह प्राप्त होने पर महान् अज्ञान से छुटकारा मिल जाता है, ऐसे उन गुरुवर को अभीष्ट सिद्धि के लिये प्रणाम करता हूँ । । ५६ । ।

व्याख्या— यहाँ गुरु कृपा से अज्ञान से छुटकारा और अपने अभीष्ट-सिद्धि के लिये गुरु को नमन किया गया है, गुरु कृपा से केवल अज्ञान ही नहीं, तमोगुण के संस्कार तथा वासना, आसक्ति, क्लेश, विकार, इन सबका नाश होता है। कृर्तृत्वाभिमान के कारण चित्त विकार युक्त रहता है, गुरु कृपा उसे शुद्ध करती है, भोक्ता के स्थान पर द्रष्टा भाव का उदय करती है। साधक का वास्तव में यही अभीष्ट है। जगत् की नाशवान् वस्तुओं की प्राप्ति की अभिलाषा साधक को कभी अभीष्ट नहीं होना चाहिये। जगत् का आकर्षण अध्यात्म से गिराता है । । ५६ । ।

पादाब्जं सर्व संसार, दावानल विनाशकम् ।
ब्रह्मरन्ध्रेसिताम्भोज, मध्यस्थं चंद्र मण्डले । । ५७ । ।
अकथादि त्रिरेखाब्जे, सहस्त्रदल मण्डले ।
हंस पार्श्व त्रिकोणे च, स्मेरत् तन्मध्यगं गुरुम् । । ५८ । ।

अर्थ— सारे संसार के दावानल रूपी ताप के नाश करने वाले, ब्रह्मरन्ध्र के चन्द्र मण्डल के मध्य श्वेत कमल पर गुरु चरणों का ध्यान करना चाहिये ।।५७।।

दूसरा ध्यान अ-क-थ- इन तीन रेखाओं से बने कमल पर सहस्त्र दल मण्डल में हंस के पार्श्व में स्थित त्रिकोण के मध्य, उन गुरुदेव का स्मरण करना चाहिये। (ध्यान करना चाहिये) । । ५८ । ।

व्याख्या— ब्रह्मरंध्र (सहस्त्रार) में अनेक प्रकार के मण्डल तथा भिन्न अक्षरों से बने विविध कोणात्मक कमलदलों की कल्पना योगियों ने की है, जो अनुभव पर आधारित है। अत्यन्त सूक्ष्म विषय होने के कारण केवल शब्दों के माध्यम से इस विषय को समझाया नहीं जा सकता, न समझमें ही उतर सकता है, फिर भी यहाँ अपने अनुभव के आधार पर इस विषय को स्पष्ट करने का प्रयास कर रहे हैं। इस वर्णन में शास्त्रीय आधार के साथ हमारा अपनां स्वतन्त्र मत भी है।

ब्रह्मरंध्र में जब गुरु चरणों में ध्यान स्थिर हो जाता है, तब संसार रूपी दावानल के सम्पूर्ण ताप नष्ट हो जाते हैं, ताप समाप्ति के पूर्व जो आन्तरिक क्रिया योग दृष्टि से सम्पन्न होता है, उसका वर्णन निम्नानुसार है, जब कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना से होती हुई विभिन्न चक्रों का भेदन करती हुई ऊर्ध्वगामिनी होती है, तथा चित्रा एवं

वज्रा नाड़ियों को पार करती हुई सहस्त्रार में प्रवेश करती है, तब चित्त की कार्यशीलता समाप्त हो जाती है और मन, बुद्धि, अहंकार तथा संस्काराशय जो शक्ति से वियुक्त (रहित) होने के कारण कार्यशील थे। उपरोक्त स्थिति प्राप्त होने के बाद इनका व्यापार बन्द हो जाता है। जगत् का ज्ञान, चित्तरूपी ज्ञान यन्त्र के कार्यशील होने पर ही प्राप्त होता है, यह कार्यशीलता जब बन्द हो जाती है, तो जगत् विद्यमान होत हुए भी, साधक के लिये जगत् का अस्तित्व समाप्त हो जाता है, जब जगत् का अस्तित्व ही समाप्त हो गया तो उसका दावानल, उसका ताप, सब समाप्त हो जाता है। उसे सुख-दुःखों से छुटकारा मिल जाता है तथा समाधि की स्थिति प्राप्त होती है।

मूलाधार से नाभि तक अग्नि मण्डल माना जाता है, मणिपुर चक्र से विशुद्ध चक्र तक सूर्य स्थित है तथा विशुद्ध चक्र से सहस्त्रार तक चन्द्र मण्डल है। चन्द्र देव मन के देवता हैं, जिनके ज्योत्स्ना मय प्रकाश से मनको शीतलता और आनन्द एवं शान्ति की अनुभूति होती है। सहस्त्रार पर स्थिति स्थापित हो जाने पर साधक को अपार अकथनीय आनंद की अनुभूति होती है। यह आनन्द जगत् के आनन्द की अपेक्षा अत्यन्त उच्च स्तर का होता है, जिसका केवल अनुभव ही किया जा सकता है। उस आनन्द का वर्णन नहीं हो सकता।

चन्द्र मण्डल में अर्थात् आनन्द की जगतातीत अवस्था में, साधक को **अ-क-थ-** यें तीन ध्वनियाँ सुनाई देती हैं। ये अक्षर केवल ध्वन्यात्मक हैं। अर्थात् सहस्त्रार में कोई अक्षर लिखे हुए नहीं हैं, वहाँ ये ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनको साधक समाधि अवस्था में ही सुन सकता है, ये तीनों ध्वनियाँ ब्रह्मा, विष्णु महेश की प्रतीक हैं, अतः एव जगत् का स्थूल स्वरूप सिमीट कर इन तीन अक्षरों की नाद में विलीन हो जाता है, केवल नाद ही शेष रहता है। उपरोक्त नाद भी सहस्त्र मण्डल में विलीन हो जाता है। तथा केवल **अ-क-थ-** रूपी त्रिकोण ही शेष रह जाता है, इस अवस्था में साधक की अनुभूत आनन्द की सीमा नहीं रहती, जिस आनन्द को यहाँ त्रिकोण के रूप में दर्शाया गया है, वास्तव में वह आनन्द त्रिकोण की सीमा लांघ जाता है। किन्तु इस अवस्था में भी, गुरु चरणों के पार्श्व भाग का ही स्पर्श कर पाता है, केवल उसकी एक झलक ही प्राप्त होती है। जब साधक इस अवस्था से आगे बढ़ता है, तब यह स्थिति भी विलीन हो जाती है। सभी प्रकार के नाद एवं दृश्य विलीन हो जाते हैं, एवं समाधि की पूर्ण अवस्था प्राप्त होकर कैवल्य प्राप्ति होती है, तब साधक का केवल आत्मतत्त्व ही शेष रह जाता है। शक्ति भी स्वतन्त तथा पृथक् अस्तित्व समाप्त कर आत्मा में विलीन हो जाती है, इसे समाधिकी उच्चतम अवस्था मानी जाती है। उपरोक्त अवस्थाएं गुरु

होकर उसकी चित्त शक्ति से तादात्म्य स्थापित करती हैं तब ऊपर लिखी गई सभी दृष्टियों का प्रभाव शिष्य में दिखाई देता है ।। ६० ।।

अग्नि शुद्ध समंतात, ज्वाला परिचकाधिया ।
मंत्रराजमिमं मन्ये ऽ हर्निशं पातु मृत्युतः ।। ६१ ।।

अर्थ— गुरुदेव द्वारा प्रदत्त "**मंत्र राज**" प्रज्वलित अग्नि के समान शक्ति रखने वाला, मैं अपनी बुद्धि से मानता हूँ जो मृत्यु से रात दिन, सबकी, सब ओर से रक्षा करे ।। ६१ ।।

व्याख्या— श्रीगुरुदेव की दृष्टि सामर्थ्य के पश्चात्, इस श्लोकों में उनकी वाणी की सामर्थ्य का वर्णन किया गया है। गुरुदेव संकल्प सहित दृष्टि से भी अनुग्रह करते हैं, तो कभी किसी को अपनी वाणी सामर्थ्य से आध्यात्मिक लाभ पहुंचाते हैं। वैसे तो मंत्र राज "**सोऽहं" हंसः**" माना जाता है, किन्तु यहाँ मंत्र राज का अर्थ उदार दृष्टि अपना कर लेने का है, क्योंकि गुरु देव द्वारा प्रदत्त मंत्र चेतन होने के कारण अपने आप मंत्र राज की शक्ति रखता है। संकल्प पूर्वक दिया गया मंत्र शक्ति शाली होता है। गुरु प्रदत्त मंत्र का जप करने से, मंत्र शक्ति जागृत होकर शिष्य का कल्याण करती है। मंत्र केवल अक्षर समूह नहीं है। वह गुरु का माध्यम प्राप्त कर अग्नि के समान तेजस्वी हो जाता है, उस मंत्र को गुरुदेव की योगाग्नि तथा ज्ञानाग्नि दोनों का बल प्राप्त होता है। अतः उस मंत्र में शिष्य की पाप राशि को भस्म करने की शक्ति निहित होती है "**मृत्यु से सब की - सब ओर से - रक्षा करे**" का अर्थ इतना ही ग्रहण करना चाहिये कि जीवन में कई बार मृत्युवत् कष्ट होता है, अकाल मृत्यु भी होंती है, मंत्र की शक्ति से मृत्युवत् कष्ट तथा अकाल मृत्यु का भय दूर होता है। वास्तविक मृत्यु को तो कोई टाल ही नहीं सकता, हाँ, इतना अवश्य होता है कि साधक के प्रयास से जब प्रबल मंत्र शक्ति शरीर पर काम करने लगती है, तो उसके, संसार में आने-जाने का चक्र मिट जाता है, इस प्रकार उसे (साधक को) मृत्यु से छुटकारा मिल जाता है ।। ६१ ।।

तदेजति तन्नेजति, तद् दूरे तत् समीपके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्य बाह्यतः ।। ६२ ।।

अर्थ— वे गुरु देव, चलते हैं, वे नहीं चलते, वे दूर से भी दूर हैं, वे अत्यन्त समीप हैं, वे इस जगत् के भीतर परिपूर्ण हैं, और वे इस जगत के बाहर भी हैं।

व्याख्या— यहाँ गुरु के स्वरूप में, ब्रह्म (आत्मा) के समान विरुद्ध धर्मों का आरोप करते हुए, उनकी सर्व व्यापकतापर प्रकाश डाला गया है। गुरु तत्त्व चेतन होने के कारण गतिशील है, मन की गतिशीलता का वही आधार है।मन की गति

जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति सबमें बनी रहती है। गुरु तत्त्व की चैतन्य शक्ति भी समुद्र के समान अथाह है, जो चैतन्य होने के कारण समुद्र की ही भाँति सदैव तरंगित, आन्दोलित, एवं स्पन्दित होती रहती है। अतः उस गुरु तत्त्व को यहाँ गतिशील कहा गया है।

गुरु तत्त्व सर्व व्यापक होने के कारण-कण-कण में व्याप्त है, जगत् के जितने स्थावर पदार्थ हैं वे चैतन्य शक्ति से युक्त होने पर भी अचल हैं, (गतिहीन है)। इस अर्थ में वे (गुरुदेव) नहीं चलते हैं।

गुरु तत्त्व इतना दूर है कि वहाँ तक पहुँचना बड़ा कठिन है, उस दूरी की सीमा नहीं है, अतः गुरुतत्त्व को दूर से दूर कहा गया है।

अत्यंन्त समीप इसलिये कहा गया है कि, श्रद्धा भक्ति के माध्यम से हमें सहज, सुलभ हैं और आत्म तत्त्व के समान अत्यन्त समीप है।

इसी प्रकार गुरु तत्त्व इस संसार में बाहर और भीतर पूर्ण रूप से व्याप्त है, जैसे अग्नि बाहर और भीतर व्याप्त रहती है और नाना रूपों में दिखाई देती है, इसी प्रकार गुरु तत्त्व भी बाहर-भीतर पूर्ण रूप से व्याप्त है ।। ६२ ।।

अजोऽहमजरोऽहं च, अनादि निधनः स्वयम्।
अविकारश्चिदानन्द, अणीयान् महतो महान्।। ६३ ।।

अपूर्वाणां परं नित्यं, स्वयं ज्योतिर्निरामयम्'
विरजं परमाकाशं, ध्रुवमानन्दमव्ययम् ।। ६४ ।।

श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्य-मनुमानश्चतुष्ठयम्।
यस्य चात्मतपो वेद, देशिकं च सदा स्मरन्।। ६५ ।।

अर्थ— [भगवान् शंकर देवी पार्वती से कह रहे हैं कि] जिस प्रकार मैं अजन्मा और अजर (जरा रहति) हूँ। अनादि (आदि रहित, जिसके प्रारम्भ जन्म की किसी को बोध नहीं) वह भी मैं ही हूँ, तथा मृत्यु भी मैं ही हूँ, अविकारी, चिदानन्द, छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा भी मैं ही हूँ, अपूर्वों से भी पर हूँ, (जो पहले नहीं हुये हैं उनसे भी पहले) और नित्य हूँ, स्वयं ज्योति निरामय हूँ, निर्मल हूँ। विरज हूँ (रजोगुण रहित) आकाश के समान व्यापक और असीम हूँ, ध्रुव हूँ, आनन्द हूँ, अव्यय हूँ। श्रुति, प्रत्यक्ष, इतिहास, और अनुमान ये चारों भी मैं ही हूँ, (जो इस प्रकार मुझे जानते हुए) अपनी आत्मा में उपरोक्त वर्णित भावों के साथ-गुरुतत्त्व का दर्शन करता है, वही वास्तव में गुरु तत्त्व को जानता है।।६३।। ६४,।। ६५।।

व्याख्या— जिस प्रकार शिवत्त्व अज है (अजन्मा है) वैसे ही गुरुतत्त्व भी जन्म-मरण से रहित है, इसी प्रकार जरा रहित अर्थात्-वृद्धावस्था-से रहित है, शरीर के परिवर्तनजन्य अवस्था से रहित तथा अन्य शारीरिक विकार रोगादि से रहित है। जिसके आदि (प्रारम्भ) का किसी को बोध नहीं है, उसे अनादि कहते हैं, ऐसा अनादित्त्व गुरु तत्त्व में निहित है, निधन अर्थात् - मृत्यु-तत्त्व भी गुरु तत्त्व का ही स्वरूप है, वह तत्त्व अविकारी अर्थात्, विकार रहित तथा चित् (ज्ञान स्वरूप) और आनन्द स्वरूप भी है। वही तत्त्व, छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा भी है।

अपूर्व से भी पर का अर्थ होता है - जिसके पूर्व कोई हुवा ही नहीं, उसके भी परे (पूर्व) एवं नित्य — (निरन्तर) बना रहने वाला तत्त्व भी वही है, उसको किसी बाह्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं है, वह तत्त्व, **''स्वयं ज्योति''** स्वरूप है (स्वयं प्रकाशित है) उसमें किसी प्रकार का रोग (विकार) भी नहीं है वह - निरामय - है। वह तत्त्व, रजो गुण से रहित है, केवल मात्र सतोगुण में स्थित है अर्थात् गुरु तत्त्व अपनी शान्त वृत्ति में स्थित रहता है।

यहाँ उस गुरु तत्त्व को परमाकाश भी कहा गया है अर्थात् गुरुतत्त्व - सूक्ष्माति-सूक्ष्म-तम, होकर सर्व व्यापक एवं असीम है। गुरुतत्त्व ध्रुव है, अर्थात्-अविचल है, कभी चंचल नहीं होता। आनन्द स्वरूप तथा अव्यय है, कितनी भी सृष्टियों का निर्माण होता रहे, इस तत्त्व की पूर्णता का हनन नहीं होता, कहा भी गया है कि **''ॐ पूर्णमदः पूर्ण मिदम्'' ''पूर्णमेवावशिष्यते''** अन्त में पूर्ण ही शेष रहता है, गुरुतत्त्व को जानने के लिये-श्रुति (वेद) प्रत्यक्ष, एतिह्य (इतिहास) एवं अनुमान, इन चार साधनों की आवश्यकता होती है। ये चारों साधन भी गुरुतत्त्व के ही स्वरूप हैं। जो इस प्रकार स्वयं तप का आश्रय लेकर इन चारों साधनों के माध्यम से गुरुतत्त्व को जानता है (समझता है) वही वास्तव में जानता है।। ६३, ६४, ६५।।

मननं यद्भवं कार्यं तद्वदामि महामते।
साधुत्वं च मया दृष्ट्वा, त्वयि तिष्ठति साम्प्रतम्।। ६६।।

अर्थ— (भगवान् शंकर पार्वतीजी को सम्बोधन करके कह रहे हैं कि) हे महामते! गुरु देव का मनन करने से (जिस पवित्र भाव का चित्त में उदय होता है) उसका वर्णन करता हूँ, इस समय तुम्हारे मन में साधुता का प्रकाश दिखाई दे रहा है। (अतः उपदेश ग्रहण करने की भूमिका तैय्यार है)।। ६६।।

व्याख्या— मनन की क्रिया आन्तरिक है, चिन्तन, मनन के लिये चित्त की सतोगुणी भूमिका आवश्यक है। यहाँ भगवान् शंकर, देवी पार्वती की ओर संकेत

करते हुए सर्व साधारण साधकों को सतोगुणी भूमिका में आने का संकेत दे रहे हैं। बिना सतोगुणी आधार के ज्ञान का टिकना कठिन है। "**सत्त्वात् संजायते ज्ञानं**" सतोगुण से ही ज्ञान उत्पन्न होता है, और ज्ञान की परिपुष्टि के लिये मनन अत्यन्त आवश्यक है। अतः सतोगुणी भावों को धारण का प्रयत्न करना चाहिये।। ६६।।

अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन, तस्मै श्री गुरवे नमः।। ६७।।

अर्थ— सम्पूर्ण भूमण्डल ही आकार है जिनका और जिनकी विभूति से यह चराचर (चल-अचल) व्याप्त है, ऐसे पर ब्रह्म पद का दर्शन जिनकी कृपा से प्राप्त हुआ, उन गुरु देव को प्रणाम है।। ६७।।

व्याख्या— सारा ब्रह्माण्ड, चर-अचर-सम्पूर्ण प्राणी जगत् सब पर ब्रह्म का लीला विलास है, सारे ब्रह्माण्ड का ज्ञान, चराचर का ज्ञान, प्राणीजगत् का ज्ञान गुरुतत्त्व से ही प्राप्त होता है, ब्रह्मपद की जानकारी भी गुरुतत्त्व के द्वारा ही होती है, अतः ब्रह्मपद के दर्शन कराने वाले महामहिम गुरु देव को प्रणाम किया गया है। ।। ६७ ।।

सर्व श्रुति शिरोरत्न विराजित पदाम्बुजः।
वेदान्ताम्बुज सूर्यो यः तस्मै श्रीगुरवे नमः।। ६८।।

अर्थ— जिन गुरु देव के चरण कमल, चारों वेदों के महा वाक्य रूपी रत्नों से सुशोभित हैं और जो वेदान्त रूपी कमल को विकसित करने के लिये सूर्य के समान हैं ऐसे गुरु देव को मैं प्रणाम करता हूँ।। ६८।।

व्याख्या— **प्रज्ञानं ब्रह्म** (ऋग्वेद), **अहं ब्रह्माऽस्मि,** (युजर्वेद) **तत् त्वं-असि** (सामवेद), **अयं आत्मा ब्रह्म** (अथर्ववेद) ये चार महा वाक्य चारों वेदों के शिरोभूषण माने गये हैं। ये चारों वाक्य शिव शक्त्यात्मक हैं और इनका उद्‌गम् स्थल भी वही है। गुरुचरण भी शिव शक्त्यात्मक माने जाते हैं। यह गुरु तत्त्व की महिमा है, श्री गुरु चरणों से जो शक्ति प्रवाहित होती है, उसी से इन चारों महावाक्यों द्वारा ऐसा नाद फैलता है, कि जिससे शिष्यों में ज्ञान का संचार होकर मोक्ष प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। उन्हीं गुरुदेव के द्वारा वेदान्त रूपी कमल का विकास होता है। कमल का विकास बिना सूर्य के नहीं होता। अतः गुरु देव को सूर्य की उपमा दी गई है।। ६९।।

यस्य स्मरण मात्रेण, ज्ञानमुत्पद्यते स्वयम्।
य एव सर्व सम्प्राप्ति, स्तस्मै श्री गुरवे नमः।। ६९।।

अर्थ— जिनके स्मरण मात्र से ज्ञान स्वयं उत्पन्न होता है, तथा जो अपने आप सर्व प्राप्तिरूप हैं, ऐसे गुरु देव को प्रणाम है ।। ६९ ।।

व्याख्या— स्मरण हर समय बना रह सकता है, किन्तु जप हर समय नहीं हो सकता। स्मरण की प्रक्रिया सिद्ध तब होती है, जब शक्ति-क्रियाशीला-होकर जागृत हो जाती है। साधक को शक्ति की क्रियाओं पर अपना लक्ष्य सिद्ध करना चाहिये, जितनी क्रिया तीव्र होगी उतनी ही शीघ्रता से पाप राशि का नाश होता रहता है। सर्व प्राप्ति रूप का अर्थ है — सब प्रकार की उपलब्धि। सब प्रकार की उपलब्धि से जो आनन्द-सन्तोष उपलब्ध होता है, वह सब गुरुदेव का आश्रय ग्रहण करने पर प्राप्त हो जाता है, बिना गुरुतत्त्व की सहायता की उपलब्धि, अभिमान और आसक्ति बढ़ाती है। इस सर्व सन्तोष दायिनी गुरु मूर्ति को प्रणाम किया गया है ।। ६९ ।।

चैतन्यं शाश्वतं शान्तं व्योमातीतं निरंजनम् ।
नाद बिन्दु कलातीतं, तस्मै श्री गुरुवे नमः।। ७० ।।

अर्थ— जो चैतन्य हैं, शाश्वत हैं, (निरन्तर हैं) जो शान्त हैं, जो आकाश की सीमा से ऊपर हैं, जो निरंजन हैं, अर्थात् (जो निरावरण हैं) जो नाद, बिन्दु और कला से भी अतीत हैं, ऐसे गुरुदेव को प्रणाम है।। ७० ।।

व्याख्या— चैतन्य, शाश्वत, शान्त, व्योमातीत शब्दों की व्याख्या पूर्व श्लोकों में आ चुकी है। यहाँ हम निरंजन, नाद, बिन्दु, कला की व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं।

निरंजन का अर्थ निरावरण होता है, रंजन का अर्थ, विनोद की क्रिया भी होता है, जैसे मनोरंजन, किसी भाव से रंग जाना भी एक अर्थ होता है, यहाँ निरंजन का निर्लिप्त भी एक अर्थ ग्रहण कर सकते हैं।

नाद-बिन्दु- और कला से भी अतीत-- गुरु तत्त्व को बतलाया गया है। नाद-बिन्दु-कला मिलकर **"ॐ कार"** इस एकाक्षर ब्रह्म का निरुपण किया गया है। ॐकार का निरुपण उपनिषदों में विस्तार से किया गया है। ॐ कार की महिमा महान् है। बिना ॐ के कोई मंत्र शक्तिशाली नहीं बनता। गुरुदेव इस एकाक्षर ब्रह्म से भी अतीत हैं। अतः उनके इस स्वरूप को प्रणाम किया गया है ।। ७० ।।

स्थावरं जगमं चैव तथा चैव चराचरम् ।
व्याप्तं येन जगत् सर्वं तस्मै श्री गुरुवे नमः ।। ७१ ।।

अर्थ— चर-अचर-स्थावर, जंगम, एवं सम्पूर्ण जगत् जिनसे व्याप्त है ऐसे गुरुदेव को प्रणाम है।। ७१ ।।

व्याख्या— चराचर की व्याख्या श्लोक नं. ६७ में आचुकी है। स्थावर-जंगम का भी लगभग यही अर्थ होता है, किन्तु हम यहाँ अपना एक विशेष दृष्टिकोण प्रस्तुत कर रहे हैं।

श्री गुरुतत्त्व के सत् से जगत् की, चित से जगत् में समष्टि रूप से बुद्धितत्त्व की, तथा आनन्द से, क्रियात्मक सम्पूर्ण इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। यह, दृश्यमान् जगत् जड़ नहीं है, चैतन्य है, मात्र जड़वत दिखाई देता है, जैसे रस्सी के एक छोर पर कपड़ा बाँध कर तैल में भिगोकर अग्नि लगाकर घुमाया जाय, तो एक गोलाकार मण्डल दिखाई देगा, जैसे उस गोलाकार मण्डल का कोई अस्तित्व नहीं है, किन्तु दिखाई देता है, उसी प्रकार यह जगत् जड़ दिखाई देता है। वास्तव में चैतन्य में स्पन्दन होने से नाम रूपात्मक ज़गत् अस्तित्व में आता है, किन्तु यहाँ जगत् के जड़त्त्व को स्वीकार किया गया है, जड़ की सत्ता को माना है और उसको अचर और स्थावर नाम दिया गया है, ऐसे जड़, चेतन में व्याप्त सत्ता के अधिष्ठता के रूप में गुरुदेव को प्रणाम किया गया है।। ७१ ।।

ज्ञान शक्ति समारूढ स्तत्त्व माला विभूषितः ।
भुक्ति मुक्ति प्रदाताय, तस्मै श्री गुरवे नमः ।। ७२ ।।

अर्थ— जो ज्ञान शक्ति रूप, वाहन पर आरूढ़ हैं, जो छत्तीस तत्त्व माला से विभूषित हैं, जो भुक्ति, मुक्ति के दाता है, उन गुरु देव को प्रणाम है।। ७२।।

व्याख्या— किसी न किसी के पास कोई न कोई वाहन अवश्य होता है। देवताओं के अपने वाहन होते हैं, विभिन्न आकार प्रकार के पशु, पक्षी जीव, को इनमें स्थान मिला है। उन वाहनों के अपने-अपने महत्त्व को, विषयान्तर होने कारण, यहाँ उनका वर्णन नहीं करेंगे,

हमारा विषय गुरुदेव के वाहन से है, यहाँ गुरुदेव जिस वाहन पर आरूढ़ हैं, वह चिन्मय वाहन है "ज्ञान शक्ति"। जब कोई वाहन पर आरूढ़ होता है, सुसज्जित हो कर बैठता है। यहाँ गुरुदेव के गले में जो माला है वह छत्तीस तत्त्वों की चिन्मयी माला है और उससे वे विभूषित बताये गये हैं। अब सुसज्जित वाहन पर बैठ कर कोई कुछ न दे, तो उसकी श्रेष्ठता समाप्त हो जाती है। अतः यहाँ गुरुदेव को भुक्ति मुक्ति के प्रदाता कह कर प्रणाम किया गया है।। ७२ ।।

अनेक जन्म सम्प्राप्त सर्व कर्म विदाहिने ।
स्वात्म ज्ञान प्रभावेण तस्मै श्री गुरुवे नमः ।। ७३ ।।

अर्थ— अपने अन्तर्ज्ञान के प्रभाव से जो अनेक जन्मों के कारण, प्राप्त सम्पूर्ण कर्म राशि को दग्ध करने वाले हैं, उन गुरुदेव को प्रणाम है।। ७३ ।।

व्याख्या— आत्म ज्ञान बहुत ही बड़ी शक्ति है, वो गुरुदेव में, गुरुतत्त्व के माध्यम से भरपूर होती है। ज्ञान शक्ति में इतना बल होता है कि अनेक जन्मों की अशुभ कर्म राशि को दग्ध करने का सामर्थ्य, उसमें होता है।। ७३ ।।

न गुरोरधिकं तत्त्वं न गुरोरधिकं तपः
तत्त्वं ज्ञानात् परं नास्ति, तस्मै श्री गुरुवे नमः ।। ७४ ।

अर्थ— गुरु तत्त्व से अधिक कोई तत्त्व नहीं है, गुरुसेवा से बढ़कर कोई तप नहीं है, गुरु ज्ञान से बढ़कर कोई तत्त्व नहीं है, ऐसे तत्त्व स्वरूप गुरुदेव को प्रणाम है।। ७४ ।।

व्याख्या— वैसे भौतिक स्तर पर, पंचतत्त्व, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, अग्नि, का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु गुरुतत्त्व इन तत्त्वों से भी महान् है, इन पाँचों तत्त्वों का समावेश गुरुतत्त्व में हो जाता हैं।

इसी प्रकार तप के भी अनेक प्रकार हैं, किन्तु गुरुसेवा से सभी प्रकार के तपों का फल प्राप्त हो जाता है।

तत्त्व ज्ञान से बढ़कर कोई ज्ञान नहीं है- का अर्थ है- गुरुतत्त्व का पूर्ण ज्ञान होने पर सभी प्रकार का ज्ञान उसके अन्तरगत आ जाता है।। ७४ ।।

मन्नाथः श्री जगन्नाथो,मद्गुरुस्त्रिजगद्गुरुः ।
ममात्मा सर्व भूतात्मा, तस्मै श्री गुरुवे नमः ।। ७५ ।।

अर्थ— मेरे स्वामी श्री जगन्नाथ हैं, मेरे गुरु तीनों जगत् के गुरु हैं। मेरी आत्मा सब प्राणी की आत्मा है (इस भावना के साथ) मैं ऐसे गुरुदेव को प्रणाम करता हूँ।। ७५ ।।

व्याख्या— साधक को अपना यह भाव बनाकर रखना चाहिए कि मेरे गुरु सारे जगत् के स्वामी हैं, उनमें सृष्टि, स्थिति, संहार तीनों शक्ति विद्यमान हैं। वही स्वामी भुक्ति मुक्ति दाता, जगत् का शासक है, जिस की इच्छा के बिना पत्ता तक नहीं हिलता, ऐसे, वे गुरुदेव मेरे जगन्नाथ हैं।

''**मेरे गुरु तीनों लोकों के गुरु हैं**'' इसका भाव यह है कि वे गुरुओं के भी गुरु हैं, सब कालों में उनकी स्थिति बनी रहती है। वे वर्तमान् में जितने गुरु हैं, उनके भी गुरु हैं, भूतकाल में जितने गुरु हो गये हैं, उनके भी गुरु थे, और भविष्य में भी जितने गुरु होंगे उनके भी गुरु होंगे। क्योंकि सभी गुरु, जो भौतिक शरीर से गुरु हैं। उनमें ईश्वरतत्त्व, गुरुतत्त्व के ही कारण हैं।

मेरे गुरु मेरी आत्मा हैं, का तात्पर्य यह है कि श्रीगुरुदेव सभी जीवों में समान रूप से स्थित हैं, वे सर्व व्यापक आत्मा होने के कारण मेरी आत्मा भी हैं।

अतः ऐसे मेरे स्वामी जगन्नाथ, त्रिलोक के गुरु,मेरे गुरु, तथा आत्म रूप से सर्व व्यापक आत्म रूप गुरु को प्रणाम है।। ७५ ।।

ध्यान मूलं गुरोः मूर्तिः,पूजा मूलं गुरोः पदम् ।
मंत्र मूलं गुरोः वाक्यं, मोक्ष मूलं गुरोः कृपा ।। ७६ ।।

अर्थ— ध्यान का मूल गुरु की मूर्ति है, पूजा के मूल गुरुदेव के चरण कमल हैं। मंत्र का मूल गुरुदेव के वाक्य हैं। तथा मोक्ष का मूल गुरुदेव की कृपा है।

व्याख्या— ध्यान के लिये किसी स्थूल आधार की आवश्यकता रहती है और सब से उत्तम आधार गुरुदेव का भौतिक चेतन शरीर ही होता है, श्री गुरु शरीर में सूक्ष्माति सूक्ष्म गुरुतत्त्व, क्रियाशील होकर शिष्यों के कल्याण के लिये तत्पर रहता है। अतः गुरुमूर्ति का ध्यान सबसे उत्तम ध्यान है।

इसी प्रकार उपासकों के लिये सर्वश्रेष्ठ उपासना का माध्यम **''गुरु चरणारविन्द हैं''** क्योंकि गुरु चरणारविन्द में सभी देवताओं का निवास हैं। वे शिवशक्त्यात्मक होने कारण परम् पूजनीय हैं।

मंत्र का मूल स्थान वाणी है, उसको जब गुरु तत्त्व का आश्रय मिल जाता है, तो उस वाणी से जो शब्द निकलते है वे भी मंत्र बन जाते हैं, इस प्रकार एक चेतन प्रकाशित तत्त्व द्वारा दिया गया मंत्र भी चेतन होता है और वही जप के योग्य होता है। कई स्थितियों में गुरु मंत्र का प्रभाव तत्काल देखा गया है।

जब मंत्र शक्ति शिष्य में जागृत हो जाती है तो अक्षर समूह रूपी स्थूल मंत्र बाहर छूट जाता है, कई नवीन मंत्रों की स्फुरणा होती है, यह गुरुदेव द्वारा प्रदत्त वाणी का ही प्रभाव है।

मोक्ष का मूल गुरु कृपा को माना गया है। मोक्ष अन्तिम लक्ष्य है, संसार के आवागमन का चक्र,गुरु कृपा से ही मिट सकता है और मोक्ष स्थिति उपलब्ध हो सकती है।। ७६ ।।

गुरुरादिरनादिश्च, गुरु परम दैवतम् ।
गुरोः परतरं नास्ति, तस्मै श्री गुरुवे नमः ।। ७७ ।।

अर्थ— गुरु ही आदि हैं अनादि हैं और गुरु ही परम् देवता हैं एवं गुरु से बढ़कर और कोई नहीं है, ऐसे गरुदेव को प्रणाम है।। ७७ ।।

व्याख्या— जब गुरुतत्त्व मानव शरीर में विकसित होता है तो उसका आदि (प्रारम्भ) अवश्य होता है, वैसे गुरुतत्त्व अनादितो है ही। गुरुही परम् देवता का अर्थ है, गुरु से बढ़कर कोई देवता नहीं है अर्थात् जितने देवत्त्व हैं, वे सब परब्रह्म से शक्ति प्राप्त करते हैं, तब देवता कहलाते हैं, और गुरुतत्त्व स्वयं शक्ति युक्त, होने से उसे किसी से शक्ति ग्रहण नहीं करना पड़ती।

"**गुरोः परतरं**" पर पिछले श्लोकों में प्रकाश डाला जा चुका है।

उपरोक्त विभूतियुक्त गुरुदेव को प्रणाम है।। ७७।।

सप्त सागर पर्यन्तं, तीर्थ स्नानादिकं फलम्।
गुरोरंघ्रिपयो बिन्दु, सहस्रांशेन दुर्लभम्।। ७८।।

अर्थ— गुरुदेव के चरण प्रक्षालित जल के एक बिन्दु का सहस्रांश से (हजारवाँ भाग से) सप्त सागर पर्यन्त तीर्थों में स्नान का फल मिल जाता है। ॥ ७८ ॥

व्याख्या— तीर्थों में स्नान दानादिका बड़ा महत्त्व पुराणों में वर्णित है, पर सम्पन्न वर्ग के लोग ही तीर्थ यात्रा कर सकते हैं और दानादि क्रिया से पुण्यार्जन कर सकते हैं किन्तु चरणोदक की उपलब्धि सहज है। एक बिन्दु के हजारवें भाग से सात सागर पर्यंत तीर्थों में स्नान का फल मिल जाता है, तो फिर व्यर्थ तीर्थ यात्रा के व्यय का वहन क्यों किया जाय।

साधारण निर्धन लोग भी इस तीर्थ का लाभ ले सकते हैं, जो तिरादे, उसे तीर्थ कहते हैं जो भवसागर से पार उतारने में नाव का काम करे। उसे तीर्थ कहते हैं, ।।७८।।

हरौ रुष्टे गुरु स्त्राता, गुरौरुष्टे न कश्चन।
तस्मात् सर्व प्रयत्नेन, श्री गुरुं शरणं व्रजेत्।। ७९।।

अर्थ— यदि भगवान् शंकर रुष्ट हो जायं, तो गुरुदेव रक्षा कर लेते हैं, किन्तु यदि गुरु रुष्ट हो जायं तो, कोई भी रक्षा नहीं कर सकता, इसलिये सब प्रकार से प्रयत्न पूर्वक गुरुदेव की शरण ग्रहण कर लेना चाहिये।। ७९।।

व्याख्या— इस श्लोक की व्याख्या ४४ वें श्लोक में आ चुकी है।

गुरुरेव जगत् सर्वं, ब्रह्म विष्णु शिवात्मकम्।
गुरोः परतरं नास्ति, तस्मात् सम्पूजयेत् गुरुम्।। ८०।।

अर्थ— ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन तीन देवों की शक्ति से संचारित यह पूरा संसार गुरु तत्त्व का ही स्वरूप है, गुरु से श्रेष्ठ कुछ नहीं है। ऐसे गुरुदेव का ही पूजन करना चाहिये।। ८० ।।

व्याख्या— इस श्लोक की व्याख्या पिछले श्लोक में आ चुकी है।। ८० ।।

ज्ञानं विज्ञान सहितं, लभ्यते गुरु भक्तितः ।
गुरोः पर तरं नास्ति, ध्येयोऽसौ गुरु मार्गिभिः ।। ८१ ।।

अर्थ— गुरु भक्ति से विज्ञान सहित ज्ञान की प्राप्ति होती है। गुरु से बढ़कर और कुछ नहीं है। अतः गुरुमार्ग पर चलने वालों के लिये ये गुरुदेव ही ध्यान के विषय हैं।। ८१ ।।

व्याख्या— केवल पठन, पाठन, चिंतन मनन, योगाभ्यास से तथा भजन-पूजन से विज्ञान सहित ज्ञान प्राप्त नहीं होता, वह, तो गुरु भक्ति से ही सहज सुलभ है।

गुरु भक्ति का अर्थ है, गुरुदेव की शारीरिक सेवा, मन से गुरु प्रदत्त मंत्र का जप, चित्त से स्मरण, ये गुरुभक्ति के तीन प्रकार हैं, इससे गुरु शक्ति का अन्तर में प्रकाश फैलता है। अनेक प्रकार की क्रियायें होने लगती हैं, उन क्रियाओं में शारीरिक या मानसिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। श्री गुरुदेव के आदेशानुसार जीवन के विकास का प्रयत्न करना, गुरु भक्ति का स्वरूप है।

यहाँ पर ज्ञान तथा विज्ञान पर हम विशेष रूप से प्रकाश डालना चाहते हैं। शास्त्रों के पठन-पाठन, चिंतन, मनन, सत्संग एवं परस्पर वार्तालाप द्वारा सम्पादित ज्ञान, ज्ञान कहलाता है, उसमें जब पूर्ण अनुभव भी मिल जाता है तब वह विज्ञान कहलाता है, जैसे "**शक्तिपात प्रक्रिया**" केवल शास्त्र पढ़ कर समझ में नहीं आ सकती जब तक वह प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा सिद्ध नहीं होती। इसी प्रकार पूर्ण विज्ञान की अवस्था केवल गुरु के प्रति भक्ति एवं समर्पण से ही प्राप्त होती है। अतः गुरु से बढ़कर कुछ नहीं है। गुरुमार्ग पर चलने वालों के लिये केवल गुरुदेव ही ध्यान के विषय हैं।। ८१ ।।

यस्मात् परतरं नास्ति, नेति नेतीति वै श्रुतिः ।
मनसा वचसा चैव, नित्यमाराधयेत् गुरुम् ।। ८२ ।।

अर्थ— जिन से बढ़कर और कुछ नहीं है, श्रुतियाँ भी यह-नहीं, यह नहीं कहकर मौन हो जाती हैं। अतः मन और वाणी से नित्य गुरुदेव की आराधना करना चाहिये।। ८२ ।।

व्याख्या— गुरु तत्त्व सर्वोपरि है। श्रुतियाँ भी अर्थात् वेद भी उस गुरुतत्त्व का प्रतिपादन करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु अन्त में यह-नहीं, यह भी नहीं, कह कर मौन हो जाते हैं। गुरुतत्त्व का विश्लेषण शास्त्रों के द्वारा नहीं हो सकता। वह, गुरु शरीर के माध्यम से ही प्रकाशित हो सकता है। ऐसे गुरु देव की मन, वाणी से नित्य आराधना करना चाहिये- अर्थात् मन से चिन्तन एवं वाणी से प्रार्थना (स्तुति) करते हुए उनकी कृपा प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए।। ८२ ।।

गुरोः कृपा प्रसादेन, ब्रह्म विष्णु सदाशिवाः ।
समर्थाः प्रभवादौ च कैवल्यं गुरु सेवया। । ८३ ।।

अर्थ— ब्रह्मा, विष्णु, सदाशिव, केवल गुरु सेवा के प्रसाद से ही सृष्टि, पालन, संहार, प्रक्रिया में समर्थ होते हैं।। ८३।।

व्याख्या— यहाँ गुरु सेवा के विशेष महत्त्व का प्रतिपादन हुआ है, ब्रह्म में जो, सृजन शक्ति है, वह गुरु सेवा से प्राप्त हुई है। विष्णु की पालन शक्ति भी उसी का प्रताप है, तथा महेश्वर की संहार लीला भी उसी का फल है। अर्थात् गुरुतत्त्व की शक्ति के द्वारा ही ये त्रिदेव अपने-अपने नियत कर्मों को कर पाते हैं।। ८३ ।।

देव किन्नर गन्धर्वाः, पितरो यक्ष चारणाः ।
मुनयोऽपि न जानन्ति, गुरु शुश्रूषणे विधिम् ।। ८४ ।।

अर्थ— देव, किन्नर, गन्धर्व, पितर, यक्ष, चारण एवं मुनिगण भी गुरु सेवा की विधि को नहीं जानते।। ८४ ।।

व्याख्या— यहाँ सेवा धर्म की गहराई पर विचार किया गया है। वैसे सेवा धर्म के बारे में उक्ति है कि 'सेवाधर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः'' सेवाधर्म योगियों के लिये भी अगम्य है- अर्थात् योगियों के लिये भी उसे सिद्ध करना, उस मार्ग पर चलना बहुत कठिन है। उपरोक्त श्लोक में उसको और भी अगम्य सिद्ध करते हुये, देवता, गन्धर्व, किन्नर, पितर, यक्ष चारण एवं मुनिगणों द्वारा भी गुरु सेवा की विधि जानने में असमर्थता प्रकट की गई है।

ऊपर कही गई सभी जातियाँ अपने-अपने गुणों और अधिकारों के लिये प्रसिद्ध हैं, अधिकार और गुणों के अभिमान होने पर सेवा का महत्त्व जाना ही नहीं जा सकता। अधिकारी और गुणी व्यक्ति सेवा लेते हैं, करते नहीं। जब सेवा करते ही नहीं, तो उसकी विधि कैसे जानेंगें। यही श्लोक का निष्कर्ष है।। ८४ ।।

महाहंकार गर्भेण, तपो विद्या बलान्विताः ।
संसार कुहरावर्ते, घट यंत्रे यथा घटाः ।। ८५ ।।

न मुक्ता देव गन्धर्वाः, पितरो यक्ष किन्नराः।
ऋषयः सर्व सिद्धाश्च, गुरु सेवा पराङ्मुखाः।। ८६।।

अर्थ— जो गुरु सेवा से पराङ्मुख हैं, वे कभी मुक्त नहीं हो सकते, चाहे वे, देवता, गन्धर्व, पितर, यक्ष, किन्नर, ऋषि हों, सर्व सिद्ध गण हों, ये सब तप विद्या-के बल से युक्त होकर महा अहंकार के गर्भ से आवृत्त होने के कारण, तथा संसार रूपी कुहरे के कारण पूरी तरह से अपनी दृष्टि का उपयोग नहीं कर पाते। जैसे घट यंत्र (रहट) के घड़े भरते हैं, और खाली हो जाते हैं। उनको अपनी वास्तविक स्थिति का बोध नहीं होता, कि वे स्थिर होने पर जल को अपने भीतर टिका कर भी रख सकते हैं।। ८५-८६।।

व्याख्या— इस श्लोक में फिर से सेवा का महत्त्व बतलाते हुए कहा है कि उस सेवा धर्म से पराङ्मुख होने पर मुक्ति लाभ के अधिकारी नहीं होते, वे चाहे देवता, गन्धर्व, किन्नर, पितर, यक्ष, ऋषि, सर्व सिद्ध गण ही क्यों न हों। उसका कारण बतलाते हुए, स्पष्ट कर रहे हैं, "**सेवा पराङ्मुखता**" का कारण उन-उन जातियों में, या वर्ग में, उनके तप का, विद्या का, बल का अहंकार रूपी पर्दा पड़ा हुआ होने के कारण, संसार के आकर्षण रूपी कुहरे के कारण, गुरु सेवा का महत्त्व दिखाई नहीं देता, अतः मुक्ति से वञ्चित रहते हैं। यहाँ घट यंत्र की उपमा देकर समझाया गया है कि, घटयंत्र अपने दायरे में एक सीमा में ही घूमता रहता है, इसी प्रकार ये सब जातियाँ अहंकार वश सेवा से पराङ्मुख होकर, संसार चक्र में घूमती रहती हैं।। ८५-८६।।

ध्यानं श्रृणु महादेवि, सर्वानन्द प्रदायकम्।
सर्व सौख्य करं नित्यं, भुक्ति मुक्ति विधायकम्।। ८७।।

अर्थ— हे महादेवि ! अब तुम ध्यान (ध्यान का प्रकार) सुनो, जो सब प्रकार के आनन्द का देने वाला है, सम्पूर्ण प्रकार के सुखों का जनक है, और भुक्ति एवं मुक्ति का विधायक है।। ८७।।

व्याख्या— यहाँ, भगवती पार्वती को संबोधन करते हुए भगवान शंकर ध्यान का प्रकार और उसके फल का वर्णन कर रहे हैं। गुरु देव का ध्यान किस विधि से और कैसे करना चाहिये इसका प्रकार आगामी श्लोकों में बताया जायेगा।

यहाँ ध्यान का फल सब प्रकार का आनन्द, सब प्रकार के सुख, भोग- तथा मुक्ति देने वाला है, ऐसा कहा गया है। ध्यान करने में जो प्रक्रियायें सहायक होती हैं, पहले, उसका वर्णन आगामी श्लोकों में आ रहा है।। ८७।।

श्रीमत्परब्रह्म गुरुं स्मरामि,
श्रीमत्परब्रह्म गुरुं वदामि ।
श्रीमत्परब्रह्म गुरुं नमामि,
श्रीमत्परब्रह्म गुरुं भजामि ।। ८८ ।।

अर्थ— श्रीमत्परब्रह्म गुरुदेव का मैं स्मरण करता हूँ, श्रीमत्परब्रह्म, गुरु देव की वाणी से स्तुति करता हूँ, श्रीमत्परब्रह्म गुरु को नमन करता हूँ और श्रीमत्पर-ब्रह्म गुरुदेव का भजन करता हूँ।। ८८ ।।

व्याख्या— ध्यान को सिद्ध करने में उक्त प्रक्रियायें विशेष रूप से सहायक हैं, स्मरण, स्तुति, नमन, भजन, ये चार साधन, ध्यान की भूमिका में सहायक हैं और इस भूमिका के लिये शरीर के विभिन्न अंगो की सहायता ली गई है। हृदय से स्मरण होता है, वाणी से स्तुति, शरीर से नमन, मन से भजन होता है। इस प्रकार इन साधनों से ही ध्यान की भूमिका तैयार होती है।अब आगामी श्लोकों में ध्यान की प्रस्तुति है।। ८८ ।।

ब्रह्मानन्दं परम सुखदं केवलं ज्ञान मूर्तिम् ।
द्वंद्वातीतं गगन सदृशं तत्त्वमस्यादि लक्ष्यम् ।।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्व धी साक्षी भूतम ।।
भावातीतं त्रिगुण रहितं सद् गुरुं तं नमामि ।। ८९ ।।

अर्थ— उन सद् गुरुदेव को प्रणाम करता हूँ, जो ब्रह्म और आनन्द स्वरूप हैं, परम् सुख के प्रदाता हैं, जो केवल है, अर्थात् जो-केवल एक मात्र अद्वितीय हैं, जो ज्ञान मूर्ति हैं, सब द्वंद्वों से परे हैं, आकाश के समान व्यापक एवं असीम हैं। **''तत्त्वमसि''** आदि महावाक्यों के लक्ष्य हैं, जो एक हैं, नित्य हैं, मल रहित हैं, अचल हैं, सब की बुद्धि के साक्षी हैं, भावातीत हैं। त्रिगुणातीत हैं।

इस प्रकार गुरुदेव का, इन गुणों के साथ ध्यान करना चाहिये।। ८९ ।।

व्याख्या—''ब्रह्मानन्द और गुरुदेव में कोई अन्तर नहीं है। आनन्द का स्त्रोत गुरु शक्ति है, गुरुशक्ति जैसे जैसे क्रियाशीला होती जाती है, आनन्द की मात्रा बढ़ती जाती है, जगत के जितने आनन्द हैं, वे सब आभास मात्र हैं, वास्तविक आनन्द- ब्रह्मानन्द है, इस आनन्द रूप में गुरुदेव का ध्यान कर नमन करना चाहिये। सुख और आनन्द लगभग एक ही हैं सुख से आनन्द मिलता है **'सुखदाता''** भी गुरुदेव ही हैं, इसी प्रकार वे **''केवल है''** का अर्थ एक मात्र अद्वितीय भी वे ही हैं, **''ज्ञान मूर्ति''** भी वही माने गये हैं। जगत् अभिमुखी बनाने वाला ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं है।उस ज्ञान पर माया का आवरण होने के

कारण वह अज्ञान का ही एक स्वरूप है, गुरुतत्त्व, शुद्ध, माया रहित, वासना रहित, विकार रहित होने के कारण मानव जीवन का कल्याण करनेवाला है, इस प्रकार के ज्ञान से युक्त गुरुदेव ज्ञान स्वरूप, ज्ञान मूर्ति, अवस्था में अवस्थित हैं, उनके इस ज्ञान स्वरूप का ध्यान करते हुवे नमन करना चाहिये। गुरुदेव **द्वन्द्वातीत हैं**''— यह जीव जगत् अनेक प्रकार के द्वन्द्वों में फसा है, सुख-दुःख, मान-अपमान, स्वकीय परकीय, (अपना-पराया-मेरा-तेरा) शीत-उष्ण, अनुकलता-प्रतिकूलता, शत्रु-मित्र, निन्दा-स्तुति, ये सब द्वन्द्व कहलाते हैं, द्वन्द्वों का कारण माया का आवरण है, गुरुतत्त्व मायातीत होने के कारण ''**द्वन्द्वातीत**'' है।

''**गगन सदृशं**'' यहाँ गुरुदेव को आकाश के समान बतलाया गया है, आकाश सर्व व्यापक एवं असीम है। आकाशतत्त्व सूक्ष्माति सूक्ष्म होने के कारण सब तत्त्वों से बड़ा है, शेष चार तत्त्व अग्नि, वायु, जल, तेज, इस आकाश तत्त्व के अन्तर्गत ही कार्यशील होते हैं अतः गुरु तत्त्व को आकाश के सदृश बतलाया गया है।

''**तत्त्वमसि**'' यह महावाक्य ही जिनका लक्ष्य है, जो कुछ दिखाई देता है, वह सब ब्रह्म ही है, यह इस छोटे से महावाक्य का अर्थ है, दूसरे प्रकार से इसका शब्दार्थ ''**तत् = वह, त्वं = तू, असिं = है,**, ''**वह-तू-है**'' छोटा वाक्य होकर भी महावाक्य कहलाता है, यह ''**महावाक्य सामवेद का पूरा दर्शन है**'' कई आचार्यों द्वारा इस महावाक्य पर अनेक ग्रन्थों का निर्माण हुआ है, शास्त्रार्थ हुवे हैं। ''**तत्त्वमस्यादिमें**''आदि शब्द भी आया है। उसके अन्तर्गत दूसरे वेदों के महावाक्य ''**प्रज्ञानं ब्रह्म**'', (ऋग्वेद) **अहं ब्रह्मास्मि**'' (यजुर्वेद) **अयमात्मा ब्रह्म** (अथर्ववेद) इस प्रकार गुरुदेव अपनी ओर से साधकों में, इन चारों महावाक्यों द्वारा प्राप्त ज्ञान रूपी प्रकाश का वितरण करते हैं। ये चारों वाक्य जिस चैतन्य गुरुतत्त्व का लक्ष्य है उनका ध्यान करें। ''**वे एक हैं**'' गुरु तत्त्व तीनों कालों में एक समान रहता है, अतः एक हैं, नित्य है, जो नित्य है वही सत्य है, वही ऋत भी कहलाता है, सब अवस्थाओं में, सब स्थितियों में समान बना रहता है, उस एक, सत्य, नित्य गुरुतत्त्व को अपने ध्यान में लायें। अब विमल और अचल की व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं।

विमल अर्थात् मल रहित-शुद्ध है, सबसे बड़ा मल, मायामल है, जिसके कारण अन्य सभी मल अस्तित्व में आते हैं, परन्तु गुरु तत्त्व में मायामल अथवा कोई भी मल नहीं है, जगत् मलावृत है, जीवों का चित्त भी जगत् का एक अंग होने से मलावृत माना गया है। केवल गुरु तत्त्व ''**मल रहित**'' विमल है।

गतिहीन अवस्था को ''**अचल**'' कहा जाता है। सर्व व्यापक तत्त्व के लिये गति की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, इसी कारण गुरु तत्त्व अचल है।

''**सर्वधी साक्षी भूतम्**'' सब की बुद्धि का साक्षी रूप है, गुरुतत्त्व सबकी बुद्धि का साक्षी है, साक्षी रूप होने के कारण क्रियाओं, संकल्पों, विकल्पों, विचारों, वृत्तियों, वासनाओं, संस्कारों, सबके क्रिया कलाप को जानता है। उससे कोई क्रिया छिपी नहीं है, चैतन्य स्वरूप सर्वत्र, सब समय, विद्यमान होने से बुद्धि के द्वारा संचालित जितनी क्रियायें हैं उन सबका साक्षी हैं ''गुरुतत्त्व''।

''**भावातीतं**'' शुभ अथवा अशुभ भाव चित्त में उदित होते हैं, चित्त की वृत्ति के अनुसार आत्मा भासित होता है, जितने भाव, विचार हैं, वे चित्त तक ही सीमित है, श्री गुरुतत्त्व इन भावों और विचारों से प्रभावित नहीं होता, प्रकारान्तर से भावातीत अवस्था को निर्विचार ''**निर्विषय अवस्था**'' भी कह सकते हैं। यह अवस्था संप्रज्ञात समाधि की उच्चतम अवस्था मानी जाती है, गुरुतत्त्व उससे भी ऊपर की अवस्था में अवस्थित है।

''**त्रिगुण रहितं**'' तीनों गुण माया के अन्तर्गत हैं, जहाँ माया है वहाँ त्रिगुण हैं। माया और त्रिगुण अन्योन्याश्रित है, गुरुतत्त्व मायातीत है, अतः त्रिगुणरहित है, ऐसे सद्गुरु को प्रणाम है ।। ८९ ।।

नित्यं शुद्धं निराभासं, निराकारं निरंजनम्।
नित्य बोधं चिदानन्दं, गुरुं ब्रह्म नमाम्यहम् ।। ९० ।।

अर्थ— जो नित्य शुद्ध है, जो आभास रहित है अर्थात् (नेत्र से जिनकी आभा के दर्शन नहीं हो सकते) जो निराकार है, (गुरुतत्त्व का कोई आकार नहीं होता), जो निरावरण हैं (गुरुतत्त्व पर वस्त्रादि कोई आवरण नहीं होते) जो, नित्य बोध स्वरूप हैं, जो, चित् और आनन्द स्वरूप हैं, ऐसे ब्रह्म स्वरूप गुरुदेव को प्रणाम करता हूँ ।। ९० ।।

व्याख्या— यहाँ गुरुदेव को, निर्गुण निराकार स्वरूप समझकर ध्यान करने का संकेत है।

ऊपर जितने निराकार ब्रह्म के विशेषण हैं इनकी व्याख्या पूर्व वर्णित श्लोकों में आ गई है, केवल नित्य बोध पर प्रकाश नहीं डाला गया है, नित्य बोध स्वरूप को नित्य ज्ञान स्वरूप ही मानना चाहिये और इसकी भी व्याख्या आ चुकी है। यह ध्यान का प्रकरण चल रहा है, निराकार ब्रह्म के इन गुणों सहित गुरुमूर्ति का ध्यान करना चाहिये।। ९० ।।

हृदम्बुजे कर्णिक मध्य संस्थे
सिंहासने संस्थित दिव्य मूर्तिम् ।
ध्यायेद् गुरुं चन्द्रकला प्रकाशम्
चित् पुस्तिकाभीष्ट वरं दधानम् ।। ९१ ।।

अर्थ— जो चन्द्रमा की कला के समान प्रकाशित हैं, चित् (ज्ञान) रूपी पुस्तक और अभीष्ट वर मुद्रा को धारण किये हुए हैं, हृदय रूपी कमल कर्णिका के मध्य सिंहासन पर विराजमान गुरुदेव का ध्यान करें (ध्यानों के प्रकार में एक ध्यान यह भी है) ।। ९१ ।।

व्याख्या— श्लोक ८७ में जो **''ध्यानं श्रृणु महादेवि''** कहा है — उसी शृंखला में, हृदय कर्णिका के मध्य सिंहासना सीन चित् पुस्तिका लिये हुवे, अभीष्टवर मुद्रा धारण करने वाले, जो चन्द्र कला के समान प्रकाशित हैं, ऐसे गुरुदेव का ध्यान करना चाहिये ।। ९१ ।।

श्वेताम्बरं श्वेत विलेप पुष्पं, मुक्ता विभूषं मुदितं द्विनेत्रम् ।
वामांक पीठ स्थित दिव्य शक्तिं, मन्दस्मितं सान्द्रकृपा निधानम् ॥९२॥

आनन्द मानन्द करं प्रसन्नं, ज्ञान स्वरूपं निजबोध युक्तम् ।
योगीन्द्र मीड्यं भवरोग वैद्यं, श्रीमद् गुरुं नित्यमहं नमामि ।।९३ ।।

अर्थ— जिन्होंने श्वेत वस्त्र धारण कर रखे हैं, जो श्वेत पुष्पों से एवं चन्दन से अर्चित हैं, जो मुक्ता माला से विभूषित हैं, दोनों नेत्रों से जिनकी प्रसन्नता टपक रही है, जिन के वाम भाग के पास पीठ पर दिव्य शक्ति विराजमान हैं, जो मन्दहास से युक्त हैं, जो सान्द्रकृपा के निधान हैं (कृपा के घनीभूत तत्त्व को सान्द्र कृपा कहते हैं), आनन्द को भी आनन्द देने वाले, सर्वदा प्रसन्न, ज्ञान स्वरूप, अपने ही बोध (ज्ञान) से युक्त, योगियों के द्वारा पूजनीय (प्रार्थनीय) और जो भवरोग को दूर करने वाले वैद्य हैं, ऐसे श्रीमद् गुरु को मैं नित्य प्रणाम करता हूं ।। ९२-९३ ।।

व्याख्या— उपरोक्त गुरुदेव का ध्यान सगुण साकार स्वरूप को ध्यान में रखकर प्रस्तुत किया है।

श्वेताम्बर (श्वेतवस्त्र) श्वेतपुष्प (सफेदफूल) मुक्ता विभूषित (मोती भी श्वेत ही होता है) जिसका वस्त्र भी श्वेत हो, पूजा का प्रतीक पुष्प और चन्दन भी सफेद हो, और आभूषण को श्वेत चमक से युक्त हो, ध्यान में ये सब वस्तुएँ सात्विक भावों का उदय करती हैं। वामांग में शक्ति के साकार स्वरूप का ध्यान-शक्तिमान् में

शक्ति का भिन्न स्वरूप-लौकिक दृष्टि से ध्यान की प्रक्रिया को सुगम बनाने के लिये प्रदर्शित किया गया है। आकृति पर मन्द हास्य आन्तरिक आनन्द का द्योतक है। गुरु तत्त्व में कृपा का कभी अभाव नहीं होता, उनके पास सान्द्र कृपा का भण्डार है। आनन्द को भी आनन्द प्रदान करने वाले का अर्थ होता है - आनन्द का आदि स्रोत गुरु तत्त्व ही है। इसी प्रकार ज्ञान का स्रोत भी गुरुतत्त्व है।

योगियों के द्वारा जो वस्तु पूजनीय या अर्चनीय होती है, वह सबके लिये मान्य होती है, योगियों के द्वारा पूजनीय का अर्थ है — सर्व प्रथम पूजा निकेतन गुरुतत्त्व ही माना गया है।

रोग केवल शारीरिक ही नहीं होते, कुछ मानसिक भी होते है, यहाँ सारे संसार को रोग का निकेतन मानते हुवे, उसके चिकित्सक के रूप में गुरुतत्त्व का निर्देश किया है। विष्णु सहस्त्र नामों में भगवान् का एक नाम ''औषधं भिषक्'' आया है अर्थात् औषधि भी वे विष्णु हैं और वैद्य भी भगवान् विष्णु हैं, इसी प्रकार यहाँ गुरु तत्त्व को भवरोग का वैद्य कहा गया है।

इस ध्यान में सम्पूर्ण लौकिक भावनाओं का प्रदर्शन हुवा है, इस कारण इस ध्यान की धारणा सुगम है।। ९२-९३ ।।

यस्मिन्सृष्टि स्थिति ध्वंस, निग्रहानुग्रहात्मकम्।
कृत्यं पंच विधं शश्वत्, भासते तं नमाम्यहम्।। ९४ ।।

अर्थ— जिन गुरुदेव में ये पांच प्रकार के कृत्यों का नित्य आभास होता है, सृष्टि, स्थिति, विध्वंस, निग्रह, अनुग्रह ऐसे गुरुदेव को प्रणाम है।

व्याख्या— गुरुतत्त्व में परब्रह्म की पांचों शक्तियों का निवास है अतः सृष्टि प्रक्रिया से वे शिष्यों का नव निर्माण करते हैं। साधकों में ''**स्थिति**'' शक्ति के माध्यम से लौकिक कार्य सम्पादन की योग्यता प्रदान करते हैं, विध्वंस प्रक्रिया से साधक की पापराशि तथा अशुभ कर्मों का नाश करते हैं ''**निग्रह**'' शक्ति से शक्तिपात की तीव्र क्रियाओं पर नियन्त्रण करते हैं। ''**अनुग्रह**'' प्रक्रिया से साधकों को उच्च साधकों की श्रेणी में स्थापित करके उसकी साधना को बलवती बनाते हैं।। ९४ ।। (यह भी ध्यान का एक प्रकार है)

प्रातः शिरसि शुक्लाब्जे, द्विनेत्रं द्विभुजं गुरुम्।
वराभय युतं शान्तं, स्मरेत्तं नाम पूर्वकम्।। ९५ ।।

अर्थ— प्रातःकाल मस्तक पर (भ्रू मध्य में) श्वेत कमल पर दो नेत्र वाले, दो भुजावाले, वर और अभय मुद्रा से सुशोभित शान्त भाव वाले गुरुदेव का नाम पूर्वक स्मरण करना चाहिये। अर्थात् (ध्यान करना चाहिए)

व्याख्या— इस श्लोक में भी गुरुदेव के ध्यान का एक प्रकार बतलाया गया है। यह श्लोक ध्यान प्रक्रिया का अन्तिम श्लोक है।

ध्यान, आज्ञा चक्र में करने का विधान है।यहाँ, श्वेत कमल पर भ्रू मध्य में दो भुजा वाले, दो नेत्र वाले वर और अभय मुद्रा से युक्त अपने वर्तमान गुरु का नाम पूर्वक स्मरण करते हुवे, ध्यान करने का निर्देश हैं। ।। ९५ ।।

न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं, न गुरोरधिकं न गुरोरधिकम्।
शिवशासनतः शिवशासनतः, शिवशासनतः शिवशासनतः।।९६।।

अर्थ— गुरु से अधिक कुछ भी नहीं है, कुछ भी नहीं है, कुछ भी नहीं है। यह शिव शासन से निश्चित किया गया मत है, शिव शासन से शासित है, यह शिवमत है ।। ९६ ।।

व्याख्या— इस श्लोक में गुरुदेव के महत्त्व का विशेष रूप से प्रतिपादन हुवा है, और वो प्रतिपादन भी भगवान् शिव के अमृतमयी वाणी से हुवा है एवं चार बार उसे दुहराया गया है कि गुरु से बढ़कर कोई नहीं है, कोई नहीं है, कोई नहीं है।

भगवान् शिव द्वारा प्रकाशित गुरुतत्त्व महिमा-बहुत महत्त्व रखती है, सामान्यतया किसी बात को महत्त्व देना हो तो दो बार दुहराने का नियम है, यहाँ चार बार दुहराया गया है। इसी से इसका महत्त्व चार गुना बढ़ गया है ।। ९६ ।।

इदमेव शिवं त्विदमेव शिवं, त्विदमेव शिवं त्विदमेव शिवम्।
मम शासनतो मम शासनतो, मम शासनतो मम शासनतः।।९७।।

अर्थ— ये गुरुदेव ही शिव हैं, यही शिव हैं, मेरी आज्ञा से यह निश्चय किया गया है, यह मेरी आज्ञा है, यह मेरी आज्ञा से प्रसारित सन्देश है ।। ९७ ।।

व्याख्या— यहाँ भगवान् शिव फिर एक बार गुरुतत्त्व की गुरुता या महती महिमा को बल देकर कह रहे हैं कि ये गुरु देव ही शिव हैं (कल्याण स्वरूप हैं) ये गुरुदेव ही शिव हैं, (कल्याण दाता है) ये गुरुदेव ही साक्षात् शिव हैं, यह मत मैंने (शिव ने) निश्चित किया है, तथा मेरी (शिवकी) आज्ञा से प्रसारित हुवा है एवं यह मेरा अपना मत है, यह शिव शासन है ।। ९७ ।।

एवं विधं गुरुं ध्यात्वा, ज्ञानमुत्पद्यते स्वयं।
तत्सद् गुरु प्रसादेन, मुक्तोऽहमिति भावयेत्।। ९८।।

अर्थ— (श्लोक नं. ८९ से ९५ वें तक जो ध्यान की विधि बतलाई गई है) उसके अनुसार गुरुदेव का ध्यान करने से अपने आप ज्ञान का उदय होता है, उसके अनन्तर (अर्थात्-ध्यान के बाद) मैं मुक्त हूँ, ऐसी भावना करना चाहिये ।। ९८।।

व्याख्या— श्लोक नं. ८९ से ९५ तक जो ध्यान की विधि और स्वरूप बताये गये हैं। उसके अनुसार गुरुकृपा से अपने आप ज्ञान का उदय हो जाता है अर्थात् बिना विशेष श्रम के - बिना किसी विशेष साधन के - बिना किसी माध्यम के - ज्ञान की भूमिका उसे (साधक को) प्राप्त हो जाती है। ज्ञान प्राप्ति के बाद "**मैं मुक्त हूँ**" ऐसी भावना करने से शीघ्र ही मुक्ति लाभ हो जाता है।। ९८।।

गुरु दर्शित मार्गेण, मनः शुद्धिं तु कारयेत्।
अनित्यं खण्डयेत् सर्वं, यत्किंचिदात्म गोचरम्।। ९९।।

अर्थ— गुरुदेव के बताये गये मार्ग से मन को शुद्ध करना चाहिये। आत्म तत्त्व से विचार करने पर जो कुछ अनित्य दिखाई दे, उनका खण्डन करना चाहिये (अर्थात् उनको अपने मानस पटल पर से हटाना चाहिये।। ९९।।

व्याख्या— गुरुदेव के द्वारा दिखाये गये मार्ग से मन शुद्ध करने का अर्थ है सांसारिक पदार्थों से, विषयों से मन को हटाकर, पठन, पाठन, मनन, चिन्तन, आराधना आदि मार्गों द्वारा मन को भौतिक पदार्थों से हटाना चाहिये। जब तक मन भौतिकता से जुड़ा रहेगा, अशुद्ध रहेगा, भौतिकता से हटते ही मन शुद्ध हो जाता है।

आत्म तत्त्व से विचार पूर्वक अनित्य का खण्डन करना चाहिये, अनित्य का अर्थ होता है नाशवान् जागतिक जितनी वस्तुएँ हैं, स्थिति हैं, पदार्थ हैं; सब नाशवान् हैं, इन पदार्थों में जो हमारी हित बुद्धि हो गई है, उनके अनित्यता का विचार करके, उनमें जो नित्य बुद्धि हो गई है, उसका खण्डन करना चाहिये अर्थात् अपने मन में बार-बार विचार करके उन मान्यताओं को मन से हटाने का प्रयत्न करना चाहिये।। ९९।।

ज्ञेयं सर्व स्वरूपं च, ज्ञानं च मन उच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं समं कुर्यात्, नान्यः पन्था द्वितीयकः।। १००।।

अर्थ— मन ही ज्ञान कहा गया है, जितने सब स्वरूप दिखाई देते हैं, वे ज्ञेय हैं (अर्थात्-जानने के योग्य हैं) ज्ञान और ज्ञेय का समान रूप से आदर करना

चाहिये। इसको छोड़कर दूसरा मार्ग नहीं हैं। (अर्थात् जिसे जानना है और जिससे जाना जाता है, ये दोनों जब तक समान श्रेणी में नहीं आते, पूर्ण ज्ञाता बनना कठिन है)।

व्याख्या— सर्व स्वरूप आत्मा ही माना गया है, वास्तव में वही जानने के योग्य है वही **''ज्ञेय''** है। श्रीमदभगवत् गीता अध्याय १३ श्लोक १२ से १७ तक ज्ञेय की व्याख्या बड़े सुन्दर ढंग से की गई है, गीता में आत्मा का वर्णन ब्रह्म के रूप में किया गया है। आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं। मन को जानना ही वास्तव में ज्ञान है अर्थात्-मन-ही **(मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः)** बन्धन और मोक्ष का कारण है, जब मन शुद्ध होगा, अपनी स्वरूपावस्था में होगा, निर्विकार होगा, शिव संकल्प से युक्त होगा तभी आत्मा (ब्रह्म) का बोध होगा। आत्मा की निर्विकार अवस्था, और मन की निर्विकार अवस्था जब समान स्तर पर आती है तब आत्मा का (ज्ञेय) रूप समझ में आता है। आत्मा तो वैसे ही निर्विकार है, अपने स्वरूप में स्थित है, मन में ही विकार उत्पन्न होते हैं। उसे ही निर्विकार करना होता है। मन की निर्विकारिता गुरुतत्त्व का आश्रय लेने पर ही प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त **''सब रूप में-आत्मा - को, समझने का दूसरा मार्ग नहीं है।। १००।।**

एवं श्रुत्वा महादेवि, गुरु निन्दां करोति यः।
स याति नरकं घोरं, यावच्चन्द्र दिवाकरौ।। १०१।।

अर्थ— उपरोक्त गुरु महिमा का वर्णन सुनने के बाद भी जो गुरु देव की निन्दा करता है, उसे जब तक चन्द्रमा और सूर्य पृथ्वी पर हैं, तब तक घोर नरक की यातना भोगना पड़ती है।। १०१।।

व्याख्या— उपरोक्त श्लोकों में जो गुरुतत्त्व की सामर्थ्य, एवं महिमा, गुरु शक्ति की कार्यशीलता आदि का विस्तार से वर्णन आया है, उसके सुनने-समझने के बाद भी जो गुरुदेव की निन्दा करता है, उसे **''यावच्चन्द्र दिवाकरौ''** चन्द्र-सूर्य की उपस्थिति तक नरक में जाना पड़ता है अर्थात् अधोगति की प्राप्ति होती है।। १०१।।

यावत् कल्पान्तको देहस्तावदेव गुरुं स्मरेत्।
गुरु लोपो न कर्तव्यः, स्वच्छन्दो यदि वा भवेत्।। १०२।।

अर्थ— यदि एक कल्प की अवधि में अनेक देह धारण करना पड़े, तो प्रत्येक देह की अन्तिम अवस्था तक गुरु का स्मरण करना चाहिये। गुरु (स्मरण का) लोप नहीं करना चाहिये। यदि (साधक) गुरु नियन्त्रण से मुक्त होकर स्वच्छन्द हो जाय तो भी उसको स्मरण का लोप नहीं करना चाहिये।। १०२।।

व्याख्या— स्मृति अनेक प्रकार के संस्कार निर्माण करने में समर्थ है, वह एक जन्म से दूसरे जन्म में भी अपने संस्कार से जीव में अनेक प्रकार का परिवर्तन कर देती है।

इसलिये यहाँ गुरुदेव की स्मृति सर्वदा और सर्व देहों में बनाये रखने का आदेश है, यहाँ तक कि कल्पान्त तक की बात कही गई है।

गुरु स्मरण का लोप हो गया और प्रत्येक देह के अन्त समय गुरु स्मरण नहीं रहा, तो दूसरे जन्म में फिर वह जीव भटक जावेगा। अतः यहाँ गुरु स्मरण सतत बनाये रखने के लिये बल दिया गया है।

स्वच्छन्द होने का अर्थ है **''गुरु के प्रत्यक्ष नियन्त्रण से स्वतन्त्र होना''** भाव यह है कि गुरु के समीप कुछ समय व्यतीत करने के पश्चात्, जब शिष्य गुरु गृह, अथवा आश्रम छोड़कर लौकिक व्यवहार में प्रविष्ठ होता है, तो उस समय भी गुरु का स्मरण, गुरु के आदेश का पालन, तथा गुरुदेव के आदेशानुसार जीवन विकास का सतत प्रयत्न करते रहना चाहिये।

स्वच्छन्द (स्वतन्त्र) होने पर गुरु स्मरण आवश्यक है, यह इस श्लोक का भाव है।। १०२।।

हुंकारेण न वक्तव्यं, प्राज्ञैः शिष्यैः कथञ्चन।
गुरोरग्रे न वक्तव्यं, असत्यं च कदाचन।। १०३।।

अर्थ— बुद्धिमान शिष्यों को चाहिये कि, वे कभी गुरुदेव के समक्ष ''हूं'' कार, शब्द का प्रयोग न करें और गुरु के समक्ष कभी असत्य भाषण नहीं करें ।।१०३।।

व्याख्या— श्रीगुरुदेव के समक्ष सदा नम्र वाणी का शिष्ठाचार पूर्वक प्रयोग करना चाहिये। अभिमान में आकर ''हूं'' कार शब्द का प्रयोग कभी नहीं करना चाहिये। सत्य-हितकारक-मधुर-मित-भाषण,-प्रिय भाषण, ये वाणी के गुण हैं। इसके विरुद्ध, सर्व साधारण के समक्ष भी प्रयोग करना अशिष्ठता का आचरण माना जाता है। फिर गुरु देव के समक्ष असत्य बोलना तो एक महान् अपराध है। गुरुदेव के समक्ष सभी शिष्ठाचारों का पालन सावधानी पूर्वक करना चाहिये, वाणी का शिष्ठाचार उसमें प्रथम है। वाणी का शिष्ठाचार बना रहने पर गुरु शक्ति की निरन्तरता बनी रहती है। जो इस वाणी रूपी सदाचार का पालन नहीं करता, उसकी गुरुशक्ति वापस लौट जाती है।। १०३।।

गुरुं 'त्वं' कृत्य 'हुं' कृत्य, गुरुं निर्जित्य वादतः
अरण्ये निर्जले देशे, स भवेत् ब्रह्म राक्षसः।। १०४।।

अर्थ— गुरु के प्रति "तूं" "हूं" का प्रयोग नहीं करना चाहिये तथा वाद-विवाद में पराजित करने का विचार भी नहीं करना चाहिये (यदि इन नियमों का उल्लंघन किया तो) जंगल में बिना जल वाले प्रदेश में ब्रह्म राक्षस होता है ।। १०४ ।।

व्याख्या— यह श्लोक पीछे वाले श्लोक के भावों को ही प्रकारान्तर से व्यक्त कर रहा है, "**तू**" और "**हुं**" का प्रयोग गुरुदेव के प्रति घोर पतन का कारण होता है।

जैसे पुत्र पिता का आदर करता है, जैसे सेवक, स्वामी का आदर करता है, जैसे पत्नी, पति का आदर करती है, प्रजा, राजा का आदर करती है, वैसे ही शिष्यों को गुरु का आदर-सन्मान-करना चाहिये। यदि वो (शिष्य) इस प्रकार के शिष्ठाचार या व्यहवहार का पालन नहीं करता,तो बिना जल वाले प्रदेश में ब्रह्म राक्षस होता है अर्थात् प्रेत बनता है। प्रेत योनि बड़ी त्रासदायक योनि है, और पीने को पानी भी न मिले, तो आप कल्पना कर सकते हैं कि, कितना कष्टदायक जीवन होता होगा ।। १०४ ।।

मुनिभिः पन्नगैर्वाऽपि सुरैर्वा शापितो यदि ।
काल मृत्यु भयाद्वापि, गुरु रक्षति पार्वति ।। १०५ ।।

अर्थ— मुनियों द्वारा, या नागजाति द्वारा, या देवताओं के द्वारा, शापित हो, अथवा काल-मृत्यु-का भय हो, तो हे पार्वति! गुरुदेव उसकी रक्षा करते हैं ।।१०५।।

व्याख्या— भौतिक सुख-दुःख, रोग, मृत्यु, शाप आदि सब पूर्वजन्मों के संस्कार वश ही प्राप्त होते हैं।

किन्तु गुरुतत्त्व में यह सामर्थ्य है कि, वो इन उपरोक्त जातियों द्वारा दिये गये शाप से मुक्त कर सकता है, और तो ठीक है, गुरुतत्त्व काल व मृत्यु के भय को भी मिटा सकता है, अकालमृत्यु तो निश्चित ही गुरुदेव के आशीर्वाद से टल जाती है। जिसने जन्म लिया, उसकी मृत्यु तो अवश्यम्भावी है, किन्तु गुरुतत्त्व अपनी ज्ञान-शक्ति से मृत्यु के भय को मिटा देते हैं। यही इस श्लोक का भाव समझना चाहिये।। १०५ ।।

अशक्ता हि सुराद्याश्च,अशक्ता मुनयस्तथा ।
गुरु शापेन ते शीघ्रं, क्षयं यान्ति न संशयः ।। १०६ ।।

अर्थ— (जिनमें शाप देने के सामर्थ्य हैं) वे, देवता हो या मुनिगण, गुरुतत्त्व के समक्ष असमर्थ हैं।

गुरु शाप से वे भी शीघ्र नाश को प्राप्त हो जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ।। १०६ ।।

व्याख्या— यहाँ, गुरु देव द्वारा प्रदत्त शाप की प्रबलता तथा शक्तिमत्ता का महत्त्व बतलाया गया है, देवता, नाग, मुनियों के शाप का प्रतिकार, तो गुरुदेव कर सकते हैं, परन्तु गुरुदेव द्वारा दिया गया शाप का प्रतिकार नहीं है ।। १०६ ।।

मंत्रराजमिदं देवि, गुरुरित्यक्षरद्वयम् ।
स्मृतिवेदार्थ वाक्येन, गुरुः साक्षात् परं पदम् ।। १०७ ।।

अर्थ— हे पार्वती!'गुरु'ये दो अक्षर मंत्रराज हैं। स्मृति, वेद, तथा महावाक्यों में गुरु को साक्षात् **'परंपद''** कहा गया है ।। १०७ ।।

व्याख्या— मंत्रराज का अर्थ **''मंत्रों का राजा''** होता है। सभी मंत्रों का उद्‌गम स्थल श्री गुरुशक्ति ही है। शक्ति सम्पन्न गुरु द्वारा दिया गया मंत्र चेतन होता है। कई सिद्ध गुरुवों द्वारा प्रदत्त मंत्र तत्काल प्रभावी होता है, तत्काल शक्ति को जागृत कर देता है। गुरु का माध्यम यदि नहीं मिलता तो, बहुत समय तक अनेक अनुष्ठानों के बाद पुरश्चरणादि क्रिया से मंत्र चेतन होता है। श्री गुरु देव मंत्रों के प्राण हैं। गुरु ही मंत्र शक्ति हैं। गुरु के दोनों अक्षर शिव शक्त्यात्मक हैं अर्थात् शिव-शक्ति दोनों का स्वरूप है इसी कारण **''गुरु''** इन दो अक्षरों को मंत्रराज कहा है। इस मंत्र से जीव के सभी मल, विक्षेप तथा आवरण दूर हो जाते हैं और चित्त शुद्ध होकर, सब प्रकार के ज्ञान को ग्रहण करने की शक्ति प्राप्त होती है।।१०७।।

श्रुति-स्मृतिमविज्ञाय, केवलं गुरु सेवकाः ।
ते वै संन्यासिनः प्रोक्ता, इतरे वेष धारिणाः ।। १०८ ।।

अर्थ— बिना श्रुति, स्मृति, ज्ञान के भी, जो गुरु सेवक हैं वे ही वास्तव में संन्यासी है, बाकी शेष तो वेषधारी हैं ।। १०८ ।।

व्याख्या— श्रुति, स्मृति का ज्ञान परिश्रम साध्य है और बुद्धिगम्य भी है, कभी-कभी श्रुति ज्ञान, स्मृति ज्ञान के बाद भी जीवन में त्याग वृत्ति नहीं आती, संन्यास धारण के बाद भी उनमें संन्यास वृत्ति नहीं आती, वे केवल वेषधारी संन्यासी हैं। किन्तु गुरुदेव में निष्ठा रखने वाला गुरु सेवक यदि श्रुति (वेद) स्मृति के ज्ञान से शून्य भी हो तो उसमें गुरु कृपा से वास्तविक संन्यास वृत्ति का उदय हो जाता है, शेष तो मात्र वेषधारी संन्यासी ही कहे जावेंगे ।। १०८ ।।

नित्यं ब्रह्म निराकारं, निर्गुणं बोधयेत् परम् ।
सर्वं ब्रह्म निराभासं, दीपो दीपान्तरं यथा ।। १०९ ।।

गुरोः कृपा प्रसादेन,आत्मारामं निरीक्षयेत् ।
अनेन गुरु मार्गेण, स्वात्म ज्ञानं प्रवर्तते ।। ११० ।।

अर्थ— गुरुदेव के कृपा प्रसाद से आत्माराम का निरीक्षण करना चाहिये। वह आत्मतत्त्व नित्य है, ब्रह्म है, निराकार है, निर्गुण है, ऐसा जानना चाहिये। आभास रहित सब ब्रह्म है, जैसे दीपक से दूसरा दीपक जलता है वैसे ही ब्रह्म की व्यापकता का प्रसार होता है। जैसे एक दीपक से दूसरा दीपक जलने पर उस दीपक में भी कोई अन्तर नहीं होता, इसी प्रकार सब मनुष्यों में अभेद का दर्शन करना चाहिये। इसी गुरु मार्ग से ज्ञान में प्रवेश होता है ।। १०९ -११० ।।

व्याख्या— श्री परब्रह्म गुरुदेव नित्य, निराकार, एवं निर्गुण हैं। घट-घट को जानने वाले हैं। मन बुद्धि इन्द्रियों को शक्ति प्रदान करते हैं, जगत् में सर्व व्यापक हैं। गुरुदेव में गुरुतत्त्व दीपक के समान प्रज्ज्वलित रहता है। वह अपने शिष्यों में उसी दीपक से दूसरे दीपक को प्रज्ज्वलित करते हैं। शिष्य में दीपक होता है, बत्ती होती है, स्नेह-तैल या घृत होता है, किन्तु यदि उसे प्रकाशित नहीं किया जाय, तो सारी दीपक सामग्री निरर्थक है, गुरु देव, अपने भीतर प्रज्ज्वलित दीप शिखा से, उस दीपको प्रकाशवान् बनाकर अपने समान तेजोमय बना देते हैं। इस प्रकार गुरु-शिष्य में एक अभेद की स्थापना हो जाती है। इसी प्रक्रिया को शक्तिपात की प्रक्रिया कहते हैं। श्री गुरु देव के कृपा प्रसाद से आत्मा में राम के दर्शन करना चाहिये। राम को ब्रह्म माना गया है। आत्मा ही जगत् के कण, कण में व्याप्त है, व्यष्टि स्तर पर जीव में आत्मा सीमित है, समष्टि स्तर पर वही राम (ब्रह्म) कहलाता है। **''आत्मा राम''** कहने से आत्मा-परमात्मा दोनों का बोध हो जाता है। चैतन्य आत्मा का गुण है। चैतन्य के आत्मा में विलीन हो जाने पर समाधि अवस्था प्राप्त होती है। चैतन्य दशा प्राप्त होने पर चित्त क्रियाशील हो उठता है। तब चैतन्य की जाग्रत अवस्था में साधक उसकी शक्ति की अनुभूति क्रियाओं के माध्यम से अनुभव करता है। चैतन्य और गुरुशक्ति की क्रियाशीलता से, जैसे जैसे संस्कार क्षीण होते जाते हैं, चैतन्य का शुद्ध स्वरूप साधक के समक्ष प्रकट हो जाता है। तब अभेद स्थिति उत्पन्न हो जाती है, तब आत्माराम के दर्शन होना प्रारम्भ हो जाते हैं। इसी गुरु मार्ग से शिष्य, गुरु मार्ग में प्रवेश का अधिकारी होता है ।। १०९ - ११० ।।

आब्रह्म स्तम्ब पर्यन्तं परमात्म स्वरूपकम् ।
स्थावरं जंगमं चैव, प्रणमामि जगन्मयम् ।। १११ ।।

अर्थ— सब स्थावर-जंगम सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म से तृण पर्यन्त सब कुछ परमात्म स्वरूप समझकर (गुरुरूप समझकर) मैं सबको प्रणाम करता हूँ। (परमात्म स्वरूप **''जगन्मय''** है अर्थात् गुरुतत्त्व जगत् स्वरूप है) ।। १११ ।।

व्याख्या— ब्रह्म का जितना विस्तार है, उस विस्तार के सहित अणु, परमाणु तक, दोनों के बीच में, जितनी भी चल, अचल-स्थावर-जंगम, सृष्टि है। नदी, पहाड़, समुद्र, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पाताल सभी कुछ गुरु शक्ति का प्रकाश है, इसी को परमात्म शक्ति का स्वरूप कहते हैं। जगन्मय उस परमात्मतत्त्व (गुरुतत्त्व) को मैं प्रणाम करता हूँ।। १११ ।।

वन्देऽहं सच्चिदानन्दं, भेदातीतं सदा गुरुम्।
नित्यं पूर्णं निराकारं, निर्गुणं स्वात्म संस्थितम्।। ११२ ।।

अर्थ— अपनी आत्मा में स्थित उस नित्य गुरुतत्त्व को मैं प्रणाम करता हूँ, जो भेदातीत हैं, सत्-चित्-आनन्द स्वरूप हैं, जो नित्य हैं, पूर्ण हैं, निराकार हैं, निर्गुण हैं।। ११२ ।।

व्याख्या— यहाँ, ''**आत्म संस्थितं**'' को छोड़कर शेष सभी शब्दों की व्याख्या पूर्व श्लोकों में हो चुकी है। आत्मस्थित का अर्थ होता है ''**आत्मा राम**'' अपनी मस्ती में मस्त रहने वाले को आत्माराम कहते हैं, जो अपनी आत्मा में ही रत रहता है, जो अपनी आत्मा में ही तृप्त रहता है,वही आत्म स्थित कहलाता है,ऐसी आत्म स्थिति वाले गुरुदेव को मैं प्रणाम करता हूँ।।

परात्परतरं ध्येयं, नित्यमानन्दकारकम्।
हृदयाकाश मध्यस्थं, शुद्ध स्फटिक सन्निभम्।। ११३ ।।

अर्थ— हृदय रूपी आकाश के मध्य स्थित शुद्ध स्फटिक के समान, आभा वाले, नित्य आनन्द देने वाले, ऐसे परात्पर से परे (गुरुदेव) का ध्यान करने के योग्य है।। ११३ ।।

व्याख्या— यहाँ गुरुतत्त्व को परात्पर से परे कहा गया है ब्रह्म परात्पर है, और गुरुतत्त्व उससे भी परे हैं।

वही साधक का ध्येय विषय होना चाहिये, गुरुतत्त्व से नित्य आनन्द की धारा प्रवाहित होती रहती है। गुरुदेव के सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक साधक को उस आनन्द धारा में स्नान का लाभ मिलता रहता है, लौकिक पदार्थों से गुरुतत्त्व की उपमा नहीं दी जा सकती, फिर भी उपमा तो लोक से ही ग्रहण करना पड़ती है, अतः यहाँ गुरुतत्त्व की आभा के लिये **स्फटिक**'' को चुना गया है, शुद्ध स्फटिक के समान आभा हैं जिनकी,ऐसे गुरु देव का ध्यान हृदयाकाश के मध्य करना चाहिये। हृदय ही ध्यान करने के लिये उपयुक्त स्थान है। हृदय ही परमात्मा का

निवास स्थल है, श्री भगवद् गीता में भगवान कृष्ण ने स्वयं कहा है कि "**ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**" ईश्वर भूतमात्र के हृदय में निवास करता है। ॥ ११३ ॥

स्फटिक प्रतिमारूपं, दृश्यते दर्पणे यथा ।
तथात्मनि चिदाकार-मानदं सोऽहमित्युत ।। ११४ ।।

अर्थ— जैसे स्फटिक की प्रतिमा दर्पण में, निर्मल दिखाई देती है, वैसे ही आनन्द से परिपूर्ण चिदाकार आत्मा में जो दर्शन होता है, वह "**सोऽहं**" (शिव) गुरुतत्त्व मैं ही हूँ ।। ११४ ।।

व्याख्या— जब शिष्य अपने शुद्ध हृदय में गुरुदेव का ध्यान करता है, तो स्फटिक मूर्ति, जैसे दर्पण में दिखाई देती है, वैसे ही गुरु देव के दर्शन हृदय में होने लगते है। धीरे-धीरे गुरुतत्त्व के प्रकाश से उसके आनन्द में अभिवृद्धि होती जाती है, और गुरुतत्त्व के प्रकाश में वो शिष्य अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को मिला देता है, "**सोऽहं**" की स्थिति में आ जाता है, जो तू है वह-मैं हूँ अर्थात् तदाकार बन जाता है। भौतिक शरीर से ऊपर उठकर चैतन्य के सूक्ष्म स्तर पर आ जाता है, जो अध्यात्म की दृष्टि से एक उच्च स्थिति है। इस स्थिति की प्राप्ति हेतु चित्त शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है ।। ११४ ।।

अंगुष्ठ मात्र पुरुषं ध्यायतश्चिन्मयं हृदि ।
तत्र स्फुरति भावो यः श्रणु तं कथयाम्यहम् ।। ११५ ।।

अर्थ— (हे पार्वती!) सुनो, ध्यान करते हुए, जिस चिन्मय अंगुष्ठ मात्र पुरुष के दर्शन, हृदय में होते हैं। और उस समय, जिस भाव की स्फुरणा होती है, उसको कहता हूँ ।। ११५ ।।

व्याख्या— "**चिन्मय अंगुष्ठ मात्र पुरुष**" का अर्थ समझना चाहिये, कि सूक्ष्म-चिन्मय-जीवात्मा का स्वरूप अंगुष्ठ के बराबर माना गया है, दीप शिखा की, अंगुष्ठ मात्र आकार में कल्पना करके, उसके बराबर चिन्मय पुरुष को अंगुष्ठ मात्र के बराबर उपमा दी गई है।

इस प्रकार अंगुष्ठ के बराबर दीप शिखा के समान गुरुतत्त्व के दर्शन हृदय में करना चाहिये, उस ध्यान से जो स्फुरण और जो भाव आना चाहिये उसका वर्णन आगे वाले श्लोक में आ रहा है ।। ११५ ।।

अगोचरं तथाऽ गम्यं,नाम रूप विवर्जितम् ।
निः शब्दं तद्विजानीयात्, स्वभावं ब्रह्म पार्वती ।। ११६ ।।

अर्थ— हे पार्वती! जो अगोचर हैं, जो अगम्य हैं, जो नाम रूप से रहित हैं, जो शब्द रहित हैं, उसको अपना स्वयं का (ब्रह्म) भाव जानो ।। ११६ ।।

व्याख्या— पूर्व श्लोक नं. ११५ में जिन स्फुरित होने वाले भागों के बारे में कहा गया है, उनका इस श्लोक में वर्णन है। अंगुष्ठ मात्र दीप शिखा के समान हृदय में गुरुदेव का ध्यान स्थिर होने पर उस हृदय में दिखाई देनेवाले स्वरूप में - निम्न भावों की कल्पना करते हुवे ध्यान करना चाहिये।

वह आत्मतत्त्व (गुरुतत्त्व) दृष्टि से दिखाई नहीं देता, जिसके पास पहुंचना कठिन है, जिसका कोई नाम, रूप नहीं है, जिसमें कोई शब्द नहीं है, अर्थात् जिसकी वाणी नहीं है। ऐसे उस अंगुष्ठ मात्र पुरुष को अपना स्वयं का (ब्रह्म) भाव समझ कर ध्यान करना चाहिये ।। ११६ ।।

यथा गन्धः स्वभावेन, कर्पूर कुसुमादिषु ।
शीतोष्णादि स्वभावेन,तथा ब्रह्म च शाश्वतम् ।। ११७ ।।

अर्थ— जैसे कर्पूर (कपूर) कुसुम (पुष्प) आदि में सुगन्ध स्वाभाविक होती है, जैसे शीत (सर्दी) उष्ण (गर्मी) स्वभाव से होते हैं, वैसे ही ब्रह्म स्वभाव से शाश्वत है। (अर्थात् निरन्तर है)।।११७ ।।

व्याख्या— नित्य और शाश्वत का उदाहरण भौतिक पदार्थों के माध्यम से समझाना कठिन है। न मन बुद्धि ही शाश्वत तत्त्व की व्याख्या करने में समर्थ हैं। पुष्प और कर्पूर में सुगन्ध शाश्वत नहीं हैं, न ही शीत-उष्ण आदि शाश्वत है, फिर इनके उदाहरण से शाश्वत ब्रह्म को कैसे समझा जा सकता है ? यहाँ ऐसे समझना चाहिये कि पुष्प और कपूर में सुगन्ध अभिन्न तत्त्व हैं वैसा ही ब्रह्म भी शाश्वत हैं। इसी प्रकार शीत-उष्ण-पदार्थों के उदाहरण को ग्रहण करना चाहिये - शीतलता और बर्फ को भिन्न नहीं कर सकते, इसी प्रकार अग्नि से, या उष्ण वस्तु से उष्णता को हटाया नहीं जा सकता, और इन स्वाभाविक गुणों को, उन पदार्थों से हटा लेने पर फिर वो शीत, उष्ण नहीं रह सकते इसी प्रकार ब्रह्म के साथ शाश्वत (निरन्तरता) का सम्बन्ध है ।। ११७ ।।

स्वयं तथा विधो भूत्वा, स्थातव्यं यत्र कुत्र चित् ।
कीट भ्रमरवत्तत्र, ध्यानं भवति तादृशम् ।। ११८ ।।

अर्थ— (इसी प्रकार) स्वयं भी वैसा ही होकर, अर्थात् — (ब्रह्म भाव से) जहाँ कहीं रहते हुवे, कीट और भ्रमर के समान ध्यान लगाने से वैसाही (ब्रह्ममय) तदाकार बन जाता है ।। ११८ ।।

व्याख्या— अध्यात्म मार्ग में अपने लक्ष्य पर, ध्यान का बड़ा महत्त्व है, जिस प्रकार कीट, भ्रमर का ध्यान करते हुवे कुछ दिनों में, भ्रमर बन जाता है, उसके पंख निकल आते हैं, वह कीट पूरी तरह भ्रमर का स्वरूप धारण कर लेता है।

उसी प्रकार साधक को भी अपना ध्यान स्थिर करने का प्रयत्न करना चाहिये, ध्यान स्थिर होने पर वह संसार में कहीं भी घूमता रहे, अपने लक्ष्य से हटता नहीं है ।। ११८ ।।

गुरु ध्यानं तथा कृत्वा, स्वयं ब्रह्ममयो भवेत् ।
पिण्डे पदे तथा रूपे, मुक्तोऽसौ नात्र संशयः ।। ११९ ।।

अर्थ— ऊपर बताई गई पद्धति से ध्यान करने पर साधक स्वयं ब्रह्ममय बन जाता है। वह पिण्ड से, पद से, तथा रूप से मुक्त हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ।। ११९ ।।

व्याख्या— शक्तिपात की प्रक्रिया से ही साधक का ध्यान सिद्ध होता है, वही जागृत शक्ति साधक को आगे बढ़ने का बल प्रदान करती है। पिंड, पद, और रूप के बारे में १२१ श्लोक में स्पष्टिकरण किया जावेगा। अतः यहाँ उसे स्पष्ट नहीं किया है ।। ११९ ।।

श्री पार्वत्युवाच —

पिण्डं किं तु महादेव, पदं किं समुदाहृतम् ।
रूपातीतं च रूपं किं, एतदाख्याहि शंकर ।। १२० ।।

अर्थ— पार्वती बोली — हे शंकर! (कृपया) बतावें कि पिण्ड क्या है ? हे महादेव! पद किसको कहते हैं? और रुपातीत और रूप किसे कहते हैं?।।१२०।।

व्याख्या— सामान्यतः पिंड का अर्थ- शरीर है। पद का अर्थ अधिकार या स्थिति, एवं रूप का अर्थ- सुन्दर, काला वगैर, कुरूप आदि आकृति विशेष लिया जाता है, किन्तु भगवान् शंकर यहाँ, पार्वतीजी को साधनामय अलौकिक विषय समझा रहे हैं, तथा शब्दों का अर्थ भी अलौकिक है जिसका वर्णन आगेवाले श्लोक में आ रहा है ।। १२० ।।

श्रीमहादेव उवाच —

पिण्डं कुण्डलिनी शक्तिः पदं हंसमुदाहृतम् ।
रूपं बिन्दुरिति ज्ञेयं, रूपातीतं निरंजनम् ।। १२१ ।।

अर्थ— महादेवजी बोले! कुण्डलिनी शक्ति ही पिण्ड है, हंस ही पद कहा गया है और बिन्दु को रूप कहा गया है एवं निरंजन ही रूपातीत है ।। १२१ ।।

व्याख्या— यहाँ, कुण्डलिनी को ही पिण्ड कहा गया है। सामान्य अर्थ में पिण्ड का अर्थ शरीर होता है, शरीर वास्तव में जड़ नहीं है, अपितु चैतन्य ही, पिण्ड के रूप में जड़वत् दिखाई देता है। विचार पूर्वक देखा जाय तो, जड़ भी चेतन की एक अवस्था विशेष है। जिसमें चैतन्य शक्ति का स्पन्दन अत्यन्त तीव्र होने के कारण रजोगुण की वृद्धि हो जाती है, जब यह जड़ जगत्, जड़वत् दिखाई देने लगता है। जिस प्रकार बिजली का पंखा जब तीव्र गति से घूमता है, तो स्थिर दिखाई देता है, वास्तव में वह घूम रहा होता है। इसी प्रकार जब शक्ति स्पन्दन अत्यन्त तीव्र हो जाता है, जिसे शक्ति का संकुचन कहा जाता है, तब उसमें ग्रन्थी सी पैदा हो जाती है, जिस प्रकार जल में भंवर घूमता है, इसी प्रकार चैतन्य रूपी महा समुद्र में जहाँ, जहाँ स्पन्दन अथवा आन्दोलन अति वेगवान होता है, तब जो संकुचन के कारण गठान पड़ जाती है वही जगत् के रूप में प्रतिभासित होने लगती है। कुण्डलिनी शक्ति के आधार पर ही संसार के जितने पिण्ड़ हैं (शरीर हैं) उनका संचालन होता है, यही इसका भाव है। और इसीलिये कुण्डलिनी को पिण्ड कहा गया है।

वास्तव में "**पद**" का अर्थ "**हंस**" लिया जाता है, हंस शब्द का अर्थ होता है "मैं और वह" मैं और वह मिलकर शिव-शक्ति दोनों हो जाते हैं और यह सारा संसार शिव-शक्ति के आधार पर अवस्थित है। जीव का वास्तविक रूप, अथवा स्वरूप उसका आत्मतत्त्व है न कि उसका स्थूल - या सूक्ष्म शरीर। जिसको यहाँ बिन्दु कह कर वर्णन किया गया है, उसी को यहाँ आत्मतत्त्व कहा गया है। हम यहाँ बिन्दु का यह विशेष अर्थ इस आधार पर लेते हैं कि जीव का शिव शक्त्यात्मक रूप जब फैलता है तो बिन्दु की भांति आत्मतत्त्व से शक्ति अवतरित होकर सूक्ष्म और स्थूल शरीर एवं जगत् के रूप में फैलती चली जाती है। शक्ति का यह प्रसव क्रम जगदाभिमुखी होता है, किन्तु जब शक्ति अन्तर्मुखी जाग्रत होती है, तो अपने प्रसार को समेटती हुई, आत्माभिमुखी उत्तरोत्तर अग्रसर होती है एवं चित्त शुद्धि का कार्य सम्पादन कर आत्मा - अर्थात् बिन्दु में विलीन होकर अपना अस्तित्व विलीन कर देती है। तथा बिन्दु शेष रह जाता है। शक्ति के इस आरोहण और अवरोहण को उच्च साधक ही अनुभव कर सकते हैं।

रूपातीत स्थिति को निरंजन कहते हैं, जहाँ रूप और स्वरूप दोनों लुप्त हो जाते हैं, वहाँ निरंजन स्थिति का प्रादुर्भाव हो जाता है, निरंजन स्थिति लौकातीत स्थिति है। निर्गुण निराकार को ही निरंजन कहा जाता है ।। १२१ ।।

पिण्डे मुक्ता पदे मुक्ता, रूपे मुक्ता वरानने ।
रूपातीते तु ये मुक्ता, स्तेमुक्ता नात्र संशयः ।। १२२ ।।

अर्थ— जो पिण्ड में मुक्त है, जो पद में मुक्त है, जो रूप में मुक्त है, जो रूपातीत में भी मुक्त है, वही वास्तव में मुक्त है। इसमें कोई संदेह नहीं है ।। १२२ ।।

व्याख्या— जीव का आत्मभाव जब तक शरीर में स्थित है एवं शरीर को जड़ अनुभव करता है, तब तक जीव उसमें आबद्ध रहता है, किन्तु शक्ति जाग्रत होने के उपरान्त जब उसे देह के रूप में चैतन्य ही फैला हुआ अनुभव होता है तब वह "**पिण्ड मुक्त**" हो जाता है। इसी प्रकार जब तक उसे बाह्य स्थूल जगत् जड़ एवं अपने से भिन्न प्रतीत होता रहता है, तब तक वह जगत् में आबद्ध रहता है, किन्तु जब उसे ऐसी प्रतीति होती है कि समस्त जगत् शक्ति के प्रसव व प्रतिप्रसव की लीला मात्र है, एवं उसकी देहात्म स्थिति चित्त से ऊपर उठकर चैतन्य में स्थापित हो जाती है। तब वह "**पद मुक्त**" हो जाता है, जब उसके आत्म तत्त्व पर जड़ शरीर एवं जगत् का काल्पनिक आवरण उतर जाता है एवं वे आत्मा में स्थित हो जाते हैं, तब वे "**रूप मुक्त**" कहलाते हैं। तथा जब जीव उपरोक्त तीनों प्रकार की मुक्तियाँ प्राप्त कर लेता है, एवं उसपर किसी प्रकार का क्षीण सा आवरण शेष नहीं रहता, तब उसे "**रूपातीत**" मुक्त कहा जाता है। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है ।। १२२ ।।

स्वयं सर्व मयो भूत्वा, परं तत्त्वं विलोकयेत् ।
परात्पर तरं नान्यत्, सर्वमेतन्निरालयम् ।। १२३ ।।

अर्थ— स्वयं सर्वमय होकर परंतत्त्व को देखना चाहिये, परात्पर तत्व को छोड़कर और कुछ नहीं है, बाकी यह सब कुछ निराधार है। (निरालय का अर्थ होता है - बिना घर का-निराधार) ।। १२३ ।।

व्याख्या— जब साधक पूर्वोक्त चारों प्रकार की मुक्तियाँ प्राप्त कर ब्रह्ममय हो जाता है, तब सम्पूर्ण संसार में केवल ब्रह्म ही दिखाई देता है। एक ही सत्ता सारे संसार में विभिन्न रूप धारण किये स्थित, दृष्टि गोचर होती है। वह सत्ता साधक की स्वयं की चैतन्य की शक्ति है। सूर्य, चन्द्र एवं विभिन्न लोक सभी कुछ उसे अपना

ही स्वरूप दिखाई देने लगता है। इस अवस्था में साधक ब्रह्ममय होकर ब्रह्म में विचरण करता है एवं सर्वत्र ब्रह्म को ही देखता है। यहाँ शास्त्रकार उसी स्थिति को प्राप्त करने की ओर इंगित कर रहे हैं किन्तु ब्रह्म सत्ता अथवा गुरुतत्त्व किसी आधार पर स्थित नहीं होने के कारण, उसे निरालय कहा गया है।। १२३।।

तस्यावलोकनं प्राप्य, सर्व संग विवर्जितम्।
एकाकी निःस्पृहः शान्त, स्तिष्ठासेत् तत्प्रसादतः।। १२४।।

अर्थ— उस परात्पर तत्त्व का अवलोकन करके (अनुभव करते हुवे) सब प्रकार के संग को छोड़कर, अकेले स्पृहारहित होकर, गुरुदेव के प्रसाद से (अर्थात् प्रसन्नता से) शान्ति पूर्वक बैठना चाहिये।। १२४।।

व्याख्या— उपरोक्त परातपर तत्त्व (ब्रह्म) को सर्वत्र देखते हुए सब प्रकार की आसक्ति तथा संग को छोड़कर, अकेले, सारी इच्छाओं से मुक्त होकर गुरुदेव की प्रसन्नता प्राप्त करके शान्तिपूर्वक अपनी साधना में लगे रहना चाहिये।। १२४।।

लब्धं वाऽथ न लब्धं वा, स्वल्पं वा बहुलं तथा।
निष्कामेनैव भोक्तव्यं, सदा सन्तुष्ट चेतसा।। १२५।।

अर्थ— सदा सन्तुष्ट चित्त से, प्राप्त हो या अप्राप्त, थोड़ा हो या बहुत, निष्काम भाव से ही उसका भोग करना चाहिये।। १२५।।

व्याख्या— यहाँ सादगीपूर्ण जीवन, सन्तोषपूर्ण जीवन पर बल देते हुवे अनासक्त-निष्काम-भाव से जगत् व्यवहार का निर्देशन कर रहे हैं। संसार के भोगों को त्याग बुद्धि से ही भोगना चाहिये। प्रारब्ध वश जो प्राप्त हो जाय, उसी में सन्तुष्ट रहे और अपने मन को शान्त रखे, उपरोक्त सन्तोष वृत्ति साधना में सहायक होती है।। १२५।।

सर्वज्ञ पदमित्याहु, र्देहि सर्वमयो बुधाः।
सदानन्दः सदा शान्तो, रमते यत्र कुत्र चित्।। १२६।।

अर्थ— विद्वानों ने मुक्त पद को "**सर्वज्ञ पद**" ऐसा कहा है, इसलिये ये देहधारी को सर्वमय होकर सदा आनन्द में मग्न रहते हुवे, शान्त होकर इधर-उधर-रमण करते रहना चाहिये। अर्थात् — विचरते रहना चाहिये।।१२६।।

व्याख्या— यहाँ मुक्त पद का अर्थ है श्लोक नं. १२२ में कहे अनुसार जगत् के आकर्षण से मुक्त, संसार से ऊपर उठा हुवा, उसी पद को "**सर्वज्ञ**

पद'' भी विद्वानों ने कहा है। इसका अर्थ है कि जब, जगत् को सर्वमय देखने की दृष्टि प्राप्त हो जाती है, तो वह **''सर्वज्ञ''** अर्थात् सबकी अन्तरात्मा को जानने वाला बन जाता है। जब ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाय, तो सदा आनन्द मग्न स्थिति में शान्त वृत्ति से संसार में घूमते रहना चाहिये क्योंकि एक स्थान पर रहने पर मनुष्य फिर बन्धन में फस जाता है ।। १२६ ।।

यत्रैव तिष्ठते सोऽपिं स देशः पुण्य भाजनम् ।
मुक्तस्य लक्षणं देवि, तवाग्रे कथितं मया ।। १२७ ।।

अर्थ— हे देवी! मैंने तुमसे मुक्त पुरुषों के लक्षणों का वर्णन किया। जहाँ ऐसे मुक्त पुरुष रहते हैं, वह देश पुण्य का भागी है ।। १२७ ।।

व्याख्या— यहाँ, मुक्त पुरुषों के निवास स्थान के महत्त्व का प्रतिपादन है, जहाँ ऐसे मुक्त पुरुष रहते हैं, उसके आसपास का प्रदेश तीर्थ बन जाता है, अध्यात्म के वातावरण के कारण, वो पुण्य भूमि बन जाती है, जहाँ विषयी लोग रहते हैं वो स्थान दूषित होता है और अध्यात्म मार्ग से गिराने वाला होता है। मुक्त पुरुष के शरीर से जो पवित्र रश्मियाँ निकलती है, वही वातावरण को पवित्र बना देती है ।। १२७ ।।

उपदेश स्तथा देवि, गुरु मार्गेण मुक्तिदः ।
गुरु भक्ति स्तथा ध्यानं, सकलं तव कीर्तितम् ।। १२८ ।।

अर्थ— हे देवी! गुरु मार्ग से मुक्ति देने वाला उपदेश तथा गुरु भक्ति एवं ध्यान इन सब का वर्णन (मैंने) तुमसे किया।। १२८ ।।

व्याख्या— यहाँ भगवान् शंकर, देवी पार्वती को मुक्तिदाता उपदेश, गुरुभक्ति, एवं ध्यान आदि का वर्णन करते हुवे, उपसंहार की प्रस्तावना बना रहे हैं। आगे के श्लोकों में फलश्रुति का वर्णन होगा ।। १२८ ।।

अनेन यद् भवेत् कार्यं, तद् वदामि महामते ।
लोकोपकारकं देवि, लौकिकं तु न भावयेत् ।। १२९ ।।

अर्थ— हे महामते! उपरोक्त वर्णित साधनों से, जो लोकोपकारक कार्य होते हैं, उसको मैं तुम से कहता हूँ। हे देवि! तुम इसे लौकिक मत समझना, (उपरोक्त सम्पूर्ण वर्णन) अलौकिक है ।। १२९ ।।

व्याख्या— अलौकिक व्यक्तियों द्वारा वर्णित साधना क्रम भी अलौकिक ही होता है और साधनाक्रम में लोकोपकार की भावना निहित रहती है ।। १२९ ।।

लौकिकात्कर्मणो यान्ति, ज्ञान हीना भवार्णवम् ।
ज्ञानी तु भावयेत्सर्वं, कर्म निष्कर्म यत्कृतम् ।। १३० ।।

अर्थ— ज्ञान हीन व्यक्ति लौकिक कर्मों से संसार सागर में गोते लगाते रहते हैं और ज्ञानी जो कुछ कर्म करते हैं, वह निष्काम भावना से करते हैं (अतः उनके कर्म निष्कर्म हो जाते हैं। कर्म करते हुवे कर्म के श्रम की अनुभूति न होना निष्कर्म अवस्था है) ।। १३० ।।

व्याख्या— अज्ञानियों के कर्म संसारभिमुखी होते हैं, जो भी कर्म करते हैं सकाम भाव से, आसक्ति-ममता-एवं स्वार्थ भावना से करते हैं। अतः बार-बार-जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है, इस प्रकार संसार सागर में गोते लगाते रहते हैं। और ज्ञानी जो कर्म करते हैं, अनासक्त भाव से, निष्काम वृत्तियों से, ममत्व और स्वार्थ को छोड़कर करते हैं। अतः वे कर्म होते हुवे भी निष्कर्म हो जाते हैं। अतः बन्धन के कारण नहीं होते, और बार-बार संसार में आने-जाने के चक्र से मुक्त हो जाते हैं ।। १३० ।।

इदं तु भक्ति भावेन, पठते श्रणुते यदि ।
लिखित्वा तत्प्रदातव्यं, दानं दक्षिणया सह ।। १३१ ।।

अर्थ— इस गुरु गीता स्तोत्र का जो भक्तिभाव पूर्वक पाठ करता है, या सुनता है, या लिखकर दक्षिणा सहित दान करता है (उसकी संसारिक बाधायें दूर होती है) ।। १३१ ।।

व्याख्या— अब गुरु गीता के पाठ, श्रवण, दान, इनकी फल श्रुति का प्रारम्भ हो रहा है। गुरु गीता के पाठ से और श्रवण से गुरुतत्त्व का स्मरण बना रहता है लिखकर दक्षिणा सहित देने से पुण्य के साथ संसार बंधन से मुक्त हो जाता है ।। १३१ ।।

गुरु गीतात्मकं देवि, शुद्ध तत्त्वं मयोदितम् ।
भवव्याधि विनाशार्थं, स्वयमेव जपेत्सदा ।। १३२ ।।

अर्थ— हे देवी! गुरु गीता के रूप में मैंने शुद्ध तत्त्व का निरूपण किया है। जन्म-मरण रूपी संसार रोग से मुक्ति पाने के लिये स्वयं इस स्तोत्र का जप (पाठ) सदा करना चाहिये ।। १३२ ।।

व्याख्या— शुद्ध तत्त्व की उपलब्धि गुरु कृपा से होती है और गुरु कृपा गुरुगीता के पाठ करने और मनन करने से प्राप्त होती है। बार-बार जन्म और मरण

से बचना हो, तो गुरुगीता का पाठ स्वयं नित्य करना चाहिये और उसमें लिखे गये सिद्धान्तों के अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये ।। १३२ ।।

गुरु गीताक्षरैकं तु, मंत्रराजमिमं जपेत् ।
अन्ये च विविधा मंत्राः, कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।। १३३ ।।

अर्थ— "गुरु" इस मंत्र राज को जपते हुवे, जो गुरुगीता के एक अक्षर का भी जप करता है, तो (पार लग जाता है) अन्य विविध मंत्रों में तो इस मंत्र की सोलह कला में से एक कला के बराबर भी शक्ति की योग्यता नहीं होती अर्थात् - प्रभाव नहीं होता ।। १३३ ।।

व्याख्या— पूरी गुरुगीता ही "**गुरु महिमा**" का वर्णन होने से मंत्र राज के समान फलदायी है, गुरुगीता का एक-एक अक्षर मंत्र है, पूरी गुरुगीता मंत्र राज का महत्त्व रखती है। दूसरा कारण यह है कि, जितने देवता वर्ग हैं, सबके मंत्रों का सार गुरुगीता में आ गया है। अतः इसको चन्द्रमा की सोलह कला का महत्त्व दिया गया है, शेष देवताओं के मंत्र में तो सोलह में से एक कला के बराबर प्रभाव भी नहीं है। श्री गुरुतत्त्व सब देवताओं से परे हैं ।। १३३ ।।

अनन्त फलमाप्नोति, गुरुगीता जपेन तु ।
सर्व पाप प्रशमनं, सर्व दारिद्रय नाशनम् ।। १३४ ।।

अर्थ— गुरुंगीता के पाठ से असीम फल की प्राप्ति होती है, सब पाप राशि का नाश होता है और सब प्रकार की दरिद्रता का नाश होता है ।। १३४ ।।

व्याख्या— ब्रह्मानन्द में सब प्रकार के पुण्य कर्म का फल छिपा हुवा है, अतः ब्रह्मानन्द में निहित सब पुण्य का फल गुरुगीता के पाठ से मिल जाता है। अनेक प्रकार के, जो फलों का वर्णन शास्त्र में मिलता है, वे सब, अन्तवाले फल हैं। पुत्र, परिवार, धन, यश, सत्ता प्राप्ति, अच्छा स्वास्थ्य, ये सब आदि-अन्त वाले फल हैं किन्तु गुरुगीता का पाठ "अनन्त" फलदायी है, जो ब्रह्मानन्द का ही स्वरूप है।

जब तक पाप राशि का नाश नहीं होता तब तक पुण्य का फल (सुख) प्राप्त नहीं होता, अतः गुरुगीता के पाठ से सब प्रकार की पाप राशि का नाश होता है। इसी प्रकार दरिद्रता भी कई प्रकार की होती है, मन की दरिद्रता, बुद्धि की दरिद्रता, कर्म का दारिद्रय, इस प्रकार अनेक प्रकार की दरिद्रता का नाश भी गुरुगीता के पाठ से होता है ।। १३४ ।।

काल मृत्यु भय हरं, सर्व संकट नाशनम् ।
यक्ष राक्षस भूतानां, चोर व्याघ्र भयापहम् ।। १३५ ।।

महाव्याधि हरं सर्वं, विभूति सिद्धिदं भवेत् ।
अथवा मोहनं वश्यं, स्वयमेव जपेत्सदा ।। १३६ ।।

अर्थ— (गुरु गीता का पाठ) काल, मृत्यु के भय को हरण करने वाला, सब संकटों का नाश करने वाला, यक्ष राक्षस, भूत, चोर, सिंह, आदि के भय को दूर करनेवाला, महारोगों का नाश करनेवाला, विभूति और सिद्धि देने वाला, एवं-मोहन-वशीकरणादि प्रयोग, सफल करनेवाला है। इन सब फलों की प्राप्ति के लिये स्वयं ही गुरुगीता का पाठ नित्य करना चाहिये। ।१३५-१३६। ।

व्याख्या— काल, मृत्यु, संकट, यक्ष, राक्षस, भूत, चोर, सिंह सबके भय, महारोगादि सब पूर्व जन्म के कर्म फल के अनुसार प्राप्त होते हैं, किन्तु आध्यात्मिक साधनों के माध्यम से इन सब विघ्नों को दूर भी किया जा सकता है। गुरुगीता का पाठ उन माध्यमों में से एक है। इसी प्रकार जीवन में विभूति एवं सिद्धियों के अभाव में भी कई लोग दुःखी रहते हैं। लौकिक मान्यता प्राप्ति एवं भौतिक सुखों के लिये जीवन में विभूति और सिद्धि दोनों आवश्यक है और वो गुरुगीता पाठ से उपलब्ध हो सकती है। मोहन और वशीकरणादि क्रियायें वामाचार-या-पशवाचार के अन्तर्गत होने के कारण आध्यात्मिक दृष्टि से पतन का कारण हैं, किन्तु यदि कोई इन्हें सिद्ध करना चाहें, तो गुरुगीता के अनुष्ठान से वे भी सिद्ध हो सकती हैं ।। १३५, १३६ ।।

वस्त्रासने च दारिद्र्यं, पाषाणे रोग सम्भवः ।
मेदिन्यांदुःखमाप्नोति, काष्टे भवति निष्फलम् ।। १३७ ।।
कृष्णाजिने ज्ञान सिद्धि, मोक्ष श्री व्यांघ्रचर्मणि ।
कुशासने ज्ञान सिद्धिः, सर्व सिद्धिस्तु कम्बले ।। १३८ ।।
कुशैर्वा दुर्वया देवि, आसने शुभ्र कम्बले ।
उपविश्य ततो देवि, जपेदेकाग्र मानसः ।। १३९ ।।

— आसनों-का-वर्णन —

अर्थ— हे देवि! वस्त्र के आसन से दरिद्रता, पत्थर के आसन से रोग, पृथ्वी के आसन से दुःख, और लकड़ी के आसन से (साधना) निष्फल होती है। काले मृगचर्म से ज्ञान सिद्धि और व्याघ्र चर्म के आसन से मोक्ष और लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। कुशा के आसन से ज्ञान सिद्धि और कम्बल के आसन से सब प्रकार की सिद्धि मिलती है।

हे देवी! कुशा या-दुर्वा-आसन या सफेद कम्बल के आसन पर बैठकर एकाग्र मन से जप (पाठ) करना चाहिये ।। १३७-१३८-१३९ ।।

व्याख्या— तन्त्र शास्त्र में आसनों का भी महत्त्व पूर्ण स्थान है, अतः यहाँ साधना के समय किन-किन वस्तुओं से बने आसन का प्रयोग करना चाहिये और उनका क्या प्रभाव होता है ? उसका वर्णन कर रहे हैं। वस्त्रासन से दरिद्रता का अर्थ है — वस्त्रासन के प्रयोग से पृथ्वी के आकर्षण का प्रभाव बना रहता है, अतः तमोगुण के दोष निद्रा, आलस्य के कारण साधना ठीक नहीं हो पाती — साधनापूर्ण नहीं होना ही एक प्रकार की दरिद्रता है। इसी प्रकार पत्थर के आसन का भी पूर्वोक्त कारण होने के साथ ही,पृथ्वी से बिना आवरण के सम्बन्ध होने के कारण अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है, शरीर की उष्मा को पृथ्वी खींचती रहती है जो रोगोत्पादन का कारण है। केवल पृथ्वी का आसन भी इसी कारण से अनेक प्रकार के दुखों को जन्म देता है। केवल जमीन पर बैठकर साधना करने से कई जीव-जन्तु के काटने की सम्भावना रहती है, इस कारण भी साधना में बाधा उत्पन्न होती है। लकड़ी का आसन कठोर होता है, इस कारण भी साधना प्रायः निष्फल ही हो जाती है।

अब सिद्धिदायक तथा साधना को सफल करने वाले आसनों का वर्णन किया जा रहा है।

काला मृग चर्म, व्याघ्रचर्म, कुशासन, कम्बल, ये चार प्रकार के आसन श्रेष्ठ माने गये हैं। उनके प्रयोग के विभिन्न फल भी बतलाये गये हैं। ये चारों प्रकार के आसन सर्व प्रथम तो पृथ्वी के आकर्षण शक्ति से मुक्त करते हैं। कृष्ण मृग चर्म के आसन से ज्ञान सिद्धि मिलती है, किन्तु इस समय साधारण मृग चर्म भी सुलभ नहीं है, तो कृष्ण मृग चर्म की आशा करना तो निरर्थक है, और अहिंसक चर्म मिलना तो और भी कठिन है, स्वाभाविक मृत्यु से मरे मृग का ही चर्म श्रेष्ठ माना गया है, शिकार द्वारा प्राप्त चर्म, साधना के योग्य नहीं होता।

व्याघ्र चर्म के आसन से मोक्ष बतलाया गया है, किन्तु व्याघ्र चर्म भी हिंसक साधन से ही उपलब्ध हो सकता है, जो साधना की दृष्टि से उपयुक्त नहीं है, और आज के युग में तो मृग या व्याघ्र चर्म पर प्रतिबन्ध है। अतः ये आसन दुर्लभ होते जा रहे हैं। व्याघ्र चर्म के बारे में उल्लेख मिलता है कि इसके आसन से, प्रबल वैराग्य उत्पन्न होता है, जो गृहस्थियों के लिये बाधक है। इस कारण कम्बल-या-कुशा का ही आसन सर्व सुलभ तथा श्रेष्ठ है, उसी का प्रयोग करना चाहिये, जो आसानी से उपलब्ध हो। कम्बल का आसन सर्व सिद्धिदाता माना

गया है — कम्बल के नीचे कुशासन लगा लेना चाहिये, जो ज्यादा श्रेष्ठ माना गया है। कुशा-दुर्वा-या सफेद कम्बल के आसन पर बैठकर एकाग्र मन से गुरुगीता का पाठ, गुरु प्रदत्त मंत्र का जप करना चाहिये। यही सर्व श्रेष्ठ साधन है ।। १३७-१३८-१३९ ।।

ध्येयं शुक्लं च शान्त्यर्थं, वश्ये रक्तासनं प्रिये ।
अभिचारे कृष्ण वर्णं, पीतवर्णं धनागमे ।। १४० ।।

आसन के — रंगों — का वर्णन —

अर्थ— शान्ति के लिये सफेद आसन पर बैठकर ध्यान करना चाहिये। वशीकरण के लिये लालरंग के आसन का प्रयोग करना चाहिये। अभिचारादि के लिये काले रंग का आसन तथा द्रव्य प्राप्ति के लिये पीले रंग के आसन का प्रयोग करना चाहिये ।। १४० ।।

व्याख्या— श्वेत वर्ण की अद्भुत महिमा है, श्वेत वर्ण, निर्विकारिता, स्वच्छता — सात्विकता — का बोधक है जब कोई दूसरे वर्ण उसे प्रभावित करने को आते हैं तो वह ''**शुभ्र वर्ण**'' अपने अस्तित्व को हटा कर उसी आगन्तुक रंग को उसी के वर्ण के रूप में वापस लौटा देता है। लोग समझते हैं, सफेद पर, रंग चढ़ गया, वास्तव में श्वेत रंग पर कोई रंग चढ़ता नहीं है, वह दूसरे रंग को उसका स्वरूप लौटा देता है। श्वेत रंग त्याग का द्योतक है। अतः जीवन में शान्ति के लिये श्वेत आसन पर बैठकर साधना करना चाहिये। वशीकरण और अभिचार क्रियायें वामाचार या पश्चाचार का अङ्ग है। अतः इस पर प्रकाश डालना हमने उचित नहीं माना।

वैसे अपने मन को वश करना हो तो लाल आसन का प्रयोग किया जा सकता है। अभिचार में काले आसन का प्रयोग होता है, किन्तु अध्यात्म में काले रंग का दूसरा महत्त्व है। काले रंग पर कोई दूसरा रंग प्रभाव नहीं डाल सकता। काला रंग निर्लेप है। अतः काले कम्बल पर बैठ कर, साधना करना हो तो अभिचार की भावना छोड़कर अपने को निर्लेप भूमिका में लाकर साधना में बैठना होगा, तब भावना के अनुसार सिद्धि मिलेगी। द्रव्य प्राप्ति के लिये पीले आसन का प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि सुवर्ण का रंग भी पीला है। भगवान् विष्णु के वस्त्रों का रंग भी पीला है, भगवती लक्ष्मी को पीला रंग प्रिय है। अतः लक्ष्मी प्राप्ति के लिये पीले रंग के आसन का प्रयोग करना चाहिये ।। १४० ।।

उत्तरे शान्ति कामस्तु, वश्ये पूर्व मुखो जपेत् ।
दक्षिणे मारणं प्रोक्तं, पश्चिमे च धनागमः ।। १४१ ।।

अर्थ— उत्तर की ओर मुख करके साधना करने से शान्ति प्राप्त होती है, वशीकरण के लिये पूर्व दिशा की ओर मुख करना चाहिये। मारण के प्रयोग के लिये दक्षिण दिशा की ओर मुख करना चाहिये। धन प्राप्ति के लिये पश्चिम दिशा की तरफ मुख करके साधना करना चाहिये या गुरुगीता का पाठ करना चाहिये ।। १४१ ।।

व्याख्या— उत्तर दिशा भारत का प्रेरणा स्रोत रहा है, उत्तर में कैलाश-हिमालय-गंगा का उद्गम-सब शान्ति के द्योतक हैं। अतः शान्ति प्राप्ति के लिये उत्तर दिशा में मुख करके साधना करने का निर्देश है।

पूर्व दिशा में सूर्योदय होता है, सूर्य का काम है आकर्षण करना, प्रकाश का काम ही आकर्षित करना है, सूर्य जल का आकर्षण करता है। प्रातःकाल पक्षी गण पूर्व दिशा में उड़ते हैं। अतः वशीकरण (आकर्षण) के लिये साधना करना हो तो पूर्व दिशा में मुख करना चाहिये। मारण के लिये दक्षिण दिशा का प्रयोग बताया गया है, दक्षिण में मृत्यु के देवता का निवास है, अतः मारण के लिये दक्षिण दिशा को मान्य किया गया है, धन प्राप्ति के लिये पश्चिम में मुख करके साधना करने का निर्देश है। पश्चिम दिशा के अधिपति वरुण है, वरुण जल सम्पदा के अधिष्ठता हैं, जल सम्पदा से धन सम्पदा का गहरा सम्बन्ध है, जलमार्ग से यातायात होता है, जल से कृषि सम्पदा की वृद्धि होती है। इन सब कारणों का सम्बन्ध पश्चिम दिशा से है। पश्चिम के देश सम्पन्न हैं। अतः धन प्राप्ति के लिये पश्चिमाभिमुखी साधना फलवती होती है ।। १४१ ।।

मोहनं सर्वभूतानां, बन्ध मोक्ष करं भवेत् ।
देवराज प्रिय करं, सर्व लोक वशं भवेत् ।। १४२ ।।

अर्थ— (गुरुगीता के पाठ से) सबको मोहित किया जा सकता है, जो बन्धन में हो उसको छुड़ाया जा सकता है, देवता तथा राजा की प्रसन्नता प्राप्त की जा सकती है। सब लोकों को भी वश में किया जा सकता है ।। १४२ ।।

व्याख्या— किसी को मोहित करना, बन्धन से छुड़ाना, देवता या राजा की प्रसन्नता प्राप्त करना, सब लोकों को वश में करना, ये गुरुगीता पाठ के लौकिक फल हैं, गुरुगीता पाठ से साधक का व्यक्तित्त्व ऐसा निखर जाता है कि सब उसके वश में हो जाते हैं, उसकी आकृति में मोहकता उत्पन्न हो जाती हैं। सबसे बड़ी बात, फल श्रुति से यह समझना चाहिये कि ये मोहक फलश्रुतियाँ प्राणी को ईश्वराभिमुखी करने के लिये हैं ।। १४२ ।।

सर्वेषां स्तम्भन करं, गुणानां च विवर्धनम् ।
दुष्कर्म नाशनं चैव, सुकर्म सिद्धिदं भवेत् ।। १४३ ।।

अर्थ— (गुरुगीता के पाठ से) सबको स्तम्भित किया जा सकता है (जो जहाँ है, वहीं ठहर सकता है) सब प्रकार के गुणों में वृद्धि होती है। दुष्कर्मों का नाश होता है। शुभ कर्मों में सिद्धि प्राप्त होती है ।। १४३ ।।

व्याख्या— गुरुगीता पाठ से ऐसा व्यक्तित्व विकसित होता है कि आज्ञा का, कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। सब प्रकार के सद्‌गुणों का विकास होता है,दुष्कर्म छूटते जाते हैं, सत्कर्म की ओर प्रवृत्ति बढ़ती है, शुभ संस्कारों का उदय होता है सत्त्वगुण की प्रधानता बढ़ती जाती है ।। १४३ ।।

असिद्धं साधयेत् कार्यं, नवग्रह भयापहम् ।
दुःस्वप्न नाशनं चैव, सु स्वप्न फल दायकम् ।। १४४ ।।

अर्थ— (गुरुगीता पाठ से) जो काम बहुत बड़े दिखाई देते हैं जिनके सफल होने की आशा नहीं होती, वे कार्य भी शीघ्र सिद्ध हो जाते हैं। नवग्रहों की पीड़ा शान्त होकर उनका भय दूर होता है। खराब स्वप्नों के फल का नाश होता है और अच्छे स्वप्नों का फल शीघ्र मिलता है ।। १४४ ।।

व्याख्या— असिद्ध कार्य की सिद्धि, नवग्रह पीड़ा का भय, दुःस्वप्न के फल का भय, सुस्वप्न के फल नहीं मिलने की शंका, सबका निराकरण, गुरुगीता पाठ से हो सकता है।

कार्य की सिद्धि असिद्धि पुरुषार्थ पर निर्भर है, इसी प्रकार नवग्रह पीड़ा का भय मानसिक दुर्बलता का द्योतक है। पुरुषार्थ की सिद्धि, तथा मानसिक दुर्बलता का नाश, गुरुगीता पाठ से प्राप्त हो जाता है।

सुस्वप्न-दुःस्वप्न भी मन के हीं विकार है। अध्यात्म साधना में जब मनुष्य का मन लग जाता है, तो प्रायः स्वप्न ही नहीं आते हैं, या फिर उनके फल की चिन्ता साधक नहीं करता ।। १४४ ।।

सर्व शान्तिकरं नित्यं, तथा वन्ध्या सुपुत्रदम् ।
अवैधव्यकरं स्त्रीणां, सौभाग्य दायकं सदा ।। १४५ ।।

अर्थ— (गुरुगीता का पाठ) सब प्रकार की शान्ति प्रदान करता है। वन्ध्या स्त्री को पुत्र प्रदान करता है। स्त्रियों को सौभाग्य प्राप्त होता है तथा वैधव्य की प्राप्ति नहीं होती ।। १४५ ।।

व्याख्या— साधारणतः कई स्तोत्र पाठों में जो फलश्रुति मिलती है वो पुरुष परक होती है, यहाँ स्त्रियों का भी ध्यान रखा गया है। स्त्रियों का स्त्रीत्व-मातृत्व है, इसी प्रकार पति का सुख स्त्रियों के लिये सबसे बड़ा सुख है। यदि कोई स्त्री मां न बने तो वो वन्ध्या कहलाती है, इसी प्रकार बिना पति वाली स्त्री विधवा कहलाती है। वन्ध्यत्व और वैधव्य ये दोनों स्त्रियों के लिये अभिशाप है। गुरुगीता पाठ से स्त्री माता बनती है, उसे आजीव पति का सुख प्राप्त होता है। इस प्रकार जीवन में शान्ति बनी रहती है।। १४५।।

आयुरारोग्य मैश्वर्यं, पुत्र पौत्र प्रवर्धनम्।
अकामतः स्त्री विधवा, जपान्मोक्षमवाप्नुयात् ।१४६।।

अर्थ— (गुरुगीता का पाठ) आयु-आरोग्य-ऐश्वर्य का देने वाला है। पुत्र पौत्रादि का बढ़ाने वाला है। यदि कोई विधवा स्त्री निष्काम भाव से (गुरुगीता का) जप करती है, तो उसे मोक्ष प्राप्त होता है।। १४६।।

व्याख्या— आयु-आरोग्य एवं ऐश्वर्य - ये तीनों उपलब्धियाँ संसार में एक साथ मिलना बहुत दुर्लभ है, किन्तु गुरुगीता के अनुष्ठान से ये तीनों एक साथ प्राप्त होते हैं। यदि संसार में आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य, मिले और सन्तति नहीं मिली तो सब व्यर्थ हो जाता है, अतः इस अनुष्ठान से पुत्र पौत्रादि भी प्राप्त होते हैं। विधवा स्त्री के लिये यह संसार और यहाँ के भोग सब दुखदायी होते हैं। उसको सब ओर से वैराग्य आ जाता है यदि वो निष्काम भाव से गुरुगीता का पाठ करे तो उसे मोक्ष मिलता है, वह भव बन्धन से मुक्त हो जाती है।। १४६।।

अवैधव्यं सकामा तु, लभते चान्य जन्मनि।
सर्व दुःख भयं विघ्नं, नाशयेच्छाप हारकम्।। १४७।।

अर्थ— यदि कोई विधवा स्त्री सकाम भाव से गुरुगीता का पाठ करती है, तो उसे दूसरे जन्म में विधवा नहीं होना पड़ता। सब प्रकार के दुःख, भय, विघ्न, का नाश होता है। एवं किसी ने शाप दिया हो, तो उसका भी निवारण हो जाता है।। १४७।।

व्याख्या— गुरुगीता का पाठ जन्म जन्मान्तर तक फलदायी होता है। सब प्रकार के दुःख, भय, विघ्न, ये संसार की आसक्ति के कारण ही दुःख देते हैं, यदि वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो जाय, तो ये सब दुःखदायी स्थिति, चित्त विकृति का कारण नहीं बन सकती। शाप उसी का सफल होता है जिसमें तप हो, शाप देने पर उसकी तपस्या का नाश भी हो जाता है किन्तु गुरुगीता पाठ से ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाती है, कि शाप का उस व्यक्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।। १४७।।

सर्वबाधा प्रशमनं, धर्मार्थ काम मोक्षदम् ।
यं यं चिन्तयते कामं, तं तं प्राप्नोति निश्चितम् ।। १४८ ।।

अर्थ— (गुरुगीता के पाठ से) सब प्रकार की बाधाओं का निवारण हो जाता हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थ प्राप्त होते हैं। जिन-जिन कामनाओं का चिन्तन किया जाता है, उन-उन कामनाओं की अवश्य पूर्ति होती है ।। १४८ ।।

व्याख्या— जीवन में बाधायें संस्कारवश आती हैं, कभी-कभी बाधायें भी जीवन का निर्माण करती हैं। अतः गुरुगीता पाठ से बाधायें दूर होने का अर्थ है आत्म बल में वृद्धि होने के कारण बाधायें उसका मनोबल नष्ट नहीं कर सकती। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चार पुरुषार्थ कहलाते हैं। ये चारों पुरुषार्थ सबके सिद्ध नहीं होते। किसी का धर्म सिद्ध होता है, तो अर्थ सिद्ध नहीं होता, अर्थ सिद्ध हो जाता है तो काम सिद्ध नहीं होता और काम सिद्ध हो जाता है, तो मोक्ष सिद्ध नहीं होता। जिनके जीवन में, ये चारों पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं वे धन्य माने जाते हैं। गुरुगीता पाठ से चारों पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। गुरुगीता पाठ से संकल्प सिद्ध हो जाता है। जो-जो इच्छा करता है, उन सबकी पूर्ति होती है ।। १४८ ।।

कामितस्य कामधेनुः, कल्पना कल्प पादपः ।
चिन्तामणि श्चिंतितस्य , सर्व मंगल कारकम् ।। १४९ ।।

अर्थ— (गुरुगीता का पाठ) कामना करने वालों के लिये कामधेनु है। कल्पना करने वालों के लिये कल्पवृक्ष है चिन्ता करने वालों के लिये चिन्तामणि है (और अधिक क्या कहें?) सब प्रकार से मंगल करने वाली है ।। १४९ ।।

व्याख्या— कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि, ये तीनों स्वर्ग के अप्रतीम रत्न हैं, जो सभी कामनाओं की पूर्ति कर देते हैं। कामधेनु-कामनापूर्ति, कल्पवृक्ष-कल्पना पूर्ति, चिन्तामणि, चिन्तानाश की पूर्ति करती है, ये तीनों विभूतियों की सम्मिलित शक्ति "गुरुगीता पाठ" में है, यही इस श्लोक का भाव है ।। १४९ ।।

मोक्ष हेतुर्जपेन्नित्यं, मोक्ष श्रियमवाप्नुयात् ।
भोग कामो जपेद्यो वै, तस्य काम फल प्रदम् ।। १५० ।।

अर्थ— मोक्ष के लिये नित्य जप करने वालों को मोक्ष और लक्ष्मी दोनों प्राप्त होते हैं या मोक्ष रूपी श्री प्राप्त होती है और यदि कोई भोग की कामना से जपता है, तो उसकी कामना की पूर्ति होती है ।। १५० ।।

व्याख्या— मोक्ष-भोग-ये दोनों उपलब्धियाँ महत्वपूर्ण है। जहाँ मोक्ष होता है वहाँ भोगों का अभाव होता है और जहाँ भोग होते हैं, वहाँ मोक्ष का क्या काम?

किन्तु गुरुगीता पाठ से भोग और मोक्ष दोनों सिद्ध होते हैं इसलिये यहाँ मोक्ष के साथ श्री को जोड़कर **''मोक्ष श्रियं'' अवाप्नुयात्''** अर्थात् मोक्ष और श्री दोनों प्राप्त होते हैं और आगे की पंक्ति में भोग कामना की पूर्ति भी बता दी है ।। १५० ।।

जपेच्छाक्तश्च सौरश्च, गाणपत्यश्च वैष्णवः ।
शैवश्च सिद्धिदं देवि, सत्यं सत्यं न संशयः ।। १५१ ।।

अर्थ— हे देवी! यदि कोई शक्ति का उपासक हो, या सूर्य का उपासक हो, या गणपति का उपासक हो, या विष्णु का उपासक हो या शिव का उपासक हो, इन सब उपासकों को (गुरुगीता पाठ से बिना भेदभाव के) सिद्धि प्राप्त होती हैं, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। यह सत्य है, सत्य है ।। १५१ ।।

व्याख्या— उपरोक्त पंच देवो-पासना का क्रम आदि शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित तथा संचालित किया गया था। भिन्न-भिन्न नाम रूप वाले ये जो देव गण हैं इनके कार्यों का संचालन इनमें निहित ब्रह्मशक्ति या गुरुशक्ति ही करती है। बिना शक्ति के कोई देवता समर्थ नहीं है। अतः जब कोई साधक इन पंच देवों में से किसी देवता की उपासना करता हो वह प्रकारान्तर से गुरुशक्ति की ही उपासना करता है, अतः गुरुगीता पाठ से इन पांच देवोंपासकों को भी सिद्धि मिलती है, भगवान् शंकर दो बार सत्य-सत्य प्रयोग करके अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुवे सन्देह नहीं करने का आदेश दे रहे हैं ।। १५१ ।।

अथ काम्य जपे स्थानं, कथयामि वरानने ।
सागरे वा सरित्तीरेऽथवा हरि हरालये ।। १५२ ।।

शक्ति देवालये गोष्ठे, सर्व देवालये शुभे ।
वटे च धात्री मूले वा, मठे वृन्दावने तथा ।। १५३ ।।

पवित्रे निर्मले स्थाने, नित्यानुष्ठानतोऽपि वा ।
निर्वेदनेन मौनेन, जपमेतं समाचरेत् ।। १५४ ।।

अर्थ— हे वरानने! अब जिन स्थानों पर बैठकर साधना फलवती होती है उनका वर्णन करता हूँ। सागर हो, नदी का किनारा हो, अथवा हरि-या-हर- का मन्दिर हो, देवी का मन्दिर हो, गायों के बान्धने का स्थान (गोष्ठ) हो, किसी भी देवता का मन्दिर हो, ये स्थान साधना के लिये शुभ माने गये हैं। वड़ के नीचे, आंवले के वृक्ष के नीचे, किसी मठ में, वृन्दावन में, पवित्र निर्मल स्थान में, नित्य अनुष्ठान करने के स्थान पर, वैराग्यपूर्वक, स्वस्थ होकर मौन भाव से (गुरुगीता का) जप करना चाहिये ।। १५२ से १५४ तक ।।

व्याख्या— साधना में स्थानों का बड़ा महत्त्व है, सागर-नदीतट, अपने आपमें पवित्र स्थल हैं, हरि या हर का मन्दिर देव प्रतिमा की शक्तिमयी शक्ति से पूर्ण होते हैं, गाय का गोष्ठ (गौशाला) अपने आपमें पवित्र हैं, क्योंकि गाय में सब देवताओं का निवास माना गया है, और किसी भी प्रकार का देव मन्दिर इसलिये ग्राह्य किया गया है कि वहाँ उस देवता की शक्ति से वो स्थल संयुक्त होता है, जिस प्रकार उपरोक्त स्थलों में शक्ति या पवित्रता का निवास माना गया है उसी प्रकार कुछ वृक्ष भी देव शक्ति से परिपूर्ण माने गये हैं, उसमें से वट वृक्ष और धात्री (आंवले का वृक्ष) प्रमुख है, इन वृक्षों के नीचे साधना करने पर साधना बलवती होती है। मठ या वृन्दावन साधक या भक्त वृन्दों की उपस्थिति के कारण पवित्र माने गये हैं। नित्य पूजन का स्थान भी पवित्र होता है, उपरोक्त किसी भी स्थान पर साधना करने का आदेश हैं, किन्तु प्रदर्शित स्थलों पर एकान्त का ध्यान रखना आवश्यक है, साधना स्थल, जन समूह से रहित होना चाहिये, कोलाहल से रहित होना चाहिये तभी साधना फलवती व ऊर्जस्वती होती है।। १५२ से १५४।।

स्मशाने भय भूमौ तु, वट मूलान्तिके तथा।
सिध्यन्ति धौत्तरेमूले, चूतवृक्षस्य सन्निधौ।। १५५।।

अर्थ— (गुरु गीता का पाठ) भय भूमि श्मशान में तथा वट वृक्ष की छाया में अथवा धतूरे के मूल में, या आम्रवृक्ष की छाया में पाठ करने से साधना में शीघ्र सफलता मिलती है।। १५५।।

व्याख्या— यहाँ कुछ और स्थलों को बताया जा रहा है जहाँ साधना सिद्ध होने में सहायता मिलती है। श्मशान भगवान् शंकर की विभूति सम्पन्न होते हैं। एकान्त में होते हैं, साधारण लोग उसे भय भूमि समझते हैं, किन्तु साधना की दृष्टि से श्मशान को श्रेष्ठता प्राप्त है। वट वृक्ष तथा धतूर वृक्ष में भगवान् शिव की विभूति का निवास माना गया है। वट वृक्ष के नीचे भगवान् शंकर का निवास माना गया है। धतूर वृक्ष के फल-फूल भगवान् शंकर की अर्चा सामग्री है और आम्रवृक्ष राजवृक्ष है पंच पल्लव में आम्र ग्राह्य है। आम्र पत्र के बिना पूजा अधूरी रहती है अतः इन वृक्षों के नीचे साधना करने से शीघ्र सफलता मिलती है।। १५५।।

गुरु पुत्रो वरं मूर्ख स्तस्य सिध्यन्ति नान्यथा।
शुभकर्माणि सर्वाणि दीक्षाव्रत तपांसि च।। १५६।।

अर्थ— गुरु को चाहिये कि, वे मूर्ख शिष्य का भी वरण कर ले, यदि ऐसा नहीं किया गया, तो उस व्यक्ति के द्वारा जितने भी शुभकार्य, दीक्षा, व्रत, तप

आदि किये जाएंगे, उनमें सिद्धि नहीं मिलेगी। अर्थात् बिनागुरु के मूर्ख या पण्डित किसी को सिद्धि नहीं मिलती ।। १५६ ।।

व्याख्या— गुरुदेव के समक्ष पहुंचने के पूर्व प्रत्येक साधक अज्ञान (मूर्ख) होता है, यदि उसकी अज्ञानता को देखकर गुरुदेव उसका वरण नहीं करेंगे तो दीक्षा, व्रत, तप आदि का महत्त्व ही नहीं रहेगा और बिना गुरु के उसने इन सदाचरणों का अभ्यास भी किया तो, वो निरर्थक हो जावेगें इसलिये गुरुदेव को भी भगवान् शंकर का यह आदेश है कि वे मूर्ख शिष्य का भी वरण कर लें और इसकी अज्ञानता को दूर करने में सहायता करें।

गुरुदीक्षा प्राप्त होने पर, किसी भी प्रकार के कोई दुर्गुण उस शिष्य में रहे हों, सब अपने आप दूर होते जाएंगे। शक्तिपात प्रक्रिया से दीक्षित होने से, अन्तर्मुखी जागृत शक्ति उसके सब दोष, दुर्गुण दूरकर, उसे पुरुष बना देती है ।। १५६ ।।

संसार मल नाशार्थं, भवपाश निवृत्तये।
गुरू गीताम्भसि स्नानं, तत्त्वज्ञः कुरुते सदा ।। १५७ ।।

अर्थ— तत्त्वज्ञ व्यक्ति को सर्वदा गुरुगीता रूपी जल में स्नान करना चाहिये। संसार रूपी मल के निवारण के लिये तथा भवपाश से छूटने के लिये (गुरुगीता का पाठ मनन आवश्यक है) ।। १५७ ।।

व्याख्या— संसार मल निवृत्ति के लिये और भवपाश छेदन के लिये तत्त्वज्ञ भी गुरुगीता रूपी जल में स्नान करते रहते हैं।

स्नान से मल छूटता है, यहाँ गुरुगीता पाठ को जल की उपमा दी गई है, जगत् के संचित संस्कार ही मल कहलाते हैं, जब तक संसार मल निवृत्ति नहीं होते, तब तक चित्त भी शुद्ध नहीं होता, चित्त शुद्धि के बिना अध्यात्म विद्या का अधिकारी भी नहीं बनता। संसार के मल, शक्ति के प्रसवक्रम से संचित होते हैं और शक्ति के जागृत होने पर प्रतिप्रसव क्रम से गुरुकृपा से, उन सांसारिक मलों की निवृत्ति होती है। जैसे जल पत्थर को काटता है, इसी प्रकार गुरु गीता पाठ **''भव पाश''** को काट देता है। संसार एक प्रकार का पाश है, पाश को बिना काटे उसके बन्धन नहीं कटते, पाश व्यक्ति को निष्क्रिय बना देता है,निर्बल बना देता है, संसार रूपी पाश भी मनुष्य को शक्तिहीन बनाता है, उस पाश को गुरुगीता पाठ काटता है। अतः नित्य प्रति गुरुगीता का पाठ करना चाहिये ।। १५७ ।।

स एव च गुरुः साक्षात् ,सदा सद् ब्रह्म वित्तमः।
तस्य स्थानानि सर्वाणि, पवित्राणि न संशयः ।। १५८ ।।

अर्थ— ब्रह्म के सत् स्वरूप को जो जानता है, वही वास्तव में साक्षात् गुरु बनने के योग्य है, ऐसे गुरु जिस स्थान पर रहते हैं, वे स्थान पवित्र होते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है ।। १५८ ।।

व्याख्या— जहाँ ब्रह्मविद् गुरु का निवास होता है, वह स्थान पवित्र तीर्थ के समान हो जाता है। उनकी ज्ञानशक्ति से वो आलोकित रहता है, तथा सर्वदा कल्याणमयी रश्मि बिखेरता रहता है ।। १५८ ।।

सर्व शुद्धः पवित्रोऽसौ, स्वभावाद्यत्र तिष्ठति ।
तत्र देव गणाः सर्वे, क्षेत्रे पीठे वसन्ति हि ।। १५९ ।।

अर्थ— सर्व शुद्ध पवित्र, ये गुरु देव, जहाँ अपने स्वरूप में निवास करते हैं, वहाँ सब देवता, उस क्षेत्र और पीठ में निश्चित निवास करते हैं ।। १५९ ।।

व्याख्या— गुरु स्थान की महिमा का वर्णन है, जहाँ गुरुदेव निवास करते हैं, वहाँ सब देवताओं की शक्तियों का भी निवास होता है। अतः वह पवित्र तीर्थ स्थल बन जाता है ।। १५९ ।।

आसनस्थः शयानो वा, गच्छँस्तिष्ठन्वदन्नपि ।
अश्वारूढो गजारूढः सुप्तो वा जागृतोऽपि वा ।। १६० ।।

शुचिश्मांश्च सदा ज्ञानी, गुरुगीता जपेन तु ।
तस्य दर्शन मात्रेण, पुनर्जन्म न विद्यते ।। १६१ ।।

अर्थ— आसन पर बैठा हो, सोया हो, चल रहा हो, बोल रहा हो, घोड़े पर बैठा हो, हाथी पर बैठा हो, निद्रित अवस्था में हो, या जागृत अवस्था में हो। पवित्र होकर ज्ञानीजनों को गुरुगीता का पाठ करना चाहिये। गुरुगीता के पाठ करने वाले के दर्शन मात्र से पुनर्जन्म नहीं होता (तो पाठ का फल तो असीम है) ।। १६० ।। १६१ ।।

व्याख्या— गुरुगीता का पाठ चाहे जैसी अवस्था में कर सकते हैं, बैठे हुवे, सोये हुए, उपरोक्त अवस्थाओं में, किन्तु ज्ञानी जो सदा पवित्र रहकर गुरुगीता का पाठ करता है, उसके तो दर्शन मात्र से पुनर्जन्म नहीं होता ।। १६०, १६१ ।।

समुद्रे च यथा तोयं, क्षीरे क्षीरं-घृते-घृतम् ।
भिन्ने कुम्भे यथाकाशः, तथात्मा परमात्मनि ।। १६२ ।।

अर्थ— आत्मा परमात्मा में ठीक उसी प्रकार मिल जाता है, जैसे समुद्र में अन्य नदियों का जल, दूध में दूध, घृत में घृत, जैसे घड़े का आकाश पूर्णाकाश में मिल जाता है ।। १६२ ।।

व्याख्या— आत्मा-परमात्मा का अंश है - दूध-दूध का अंश है, घृत घृत का अंश है,घड़े का आकाश,पूर्णाकाश का अंश है, अंश-अंशी में मिलने पर एक हो जाते हैं ।। १६२ ।।

तथैव ज्ञानी जीवात्मा, परमात्मनि लीयते ।
ऐक्येन रमते ज्ञानी, यत्र तत्र दिवानिशम् ।। १६३ ।।

अर्थ— उपरोक्त प्रकार से जीवात्मा परमात्मा में मिल जाता है, इस प्रकार ज्ञानीजन — परमात्मा से एकता स्थापित करके रात-दिन इधर-उधर विचरण करते रहते हैं ।। १६३ ।।

व्याख्या— अपने को परमात्मा का अंश समझने के बाद ईश्वर से एकता स्थापित हो जाती है। फिर ज्ञानी को किसी प्रकार का भय नहीं रहता।वो जहाँ चाहे, विचरण कर सकता है। उसके लिये समय का भी प्रतिबन्ध नहीं है,रात हो या दिन सब समय वो घूम सकता है ।। १६३ ।।

एवं विधो महामुक्तः,सर्वदा वर्तते बुधः ।
तस्य सर्व प्रयत्नेन, भावभक्तिं करोति यः ।। १६४ ।।

सर्व सन्देह रहितो,मुक्तो भवति पार्वति ।
भुक्ति मुक्ति द्वयं तस्य, जिह्वाग्रे च सरस्वती ।। १६५ ।।

अनेन प्राणिनः सर्वे,गुरुगीता जपेन तु ।
सर्व सिद्धिं प्राप्नुवन्ति, भुक्तिं मुक्तिं न संशयः ।। १६६ ।।

अर्थ— हे पार्वती! इस प्रकार ज्ञानी (परमात्मा से ऐक्यभाव स्थापित करके) महामुक्त की श्रेणी में आ जाता है। उसके जो भाव भक्ति से किये गये सब प्रयत्न हैं, उनके अनुसार, वह (साधक) सब सन्देहों से रहित होकर मुक्त हो जाता है। भुक्ति और मुक्ति अर्थात्-भोग और मोक्ष दोनों उसके हाथ में रहते हैं एवं जिव्हा पर सरस्वती का निवास रहता है। गुरुगीता के पाठ से सब प्रकार की सिद्धि प्राप्त होकर भोग के अनन्तर मोक्ष प्राप्त करते हैं, इसमें सन्देह नहीं है।।१६४ से १६६-तक ।।

व्याख्या— ज्ञानी जब परमात्मा से ऐक्यता स्थापित कर लेता है, महामानवों की मुक्त श्रेणी में आ जाता है और उसके साधन फलाभिमुखी होकर भोग और मोक्ष दोनों प्रदान करते हैं, अर्थात् - जब तक वह ज्ञानी, संसार में रहता है सब प्रकार के भोग प्राप्त होते रहते हैं, और शरीर छोड़ने के बाद उसे मोक्ष प्राप्त होता है। उस ज्ञानी पर भगवती सरस्वती की भी कृपा रहती है उसकी जिव्हा पर मां सरस्वती का

निवास होता है अर्थात् — उसको वाक् सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार गुरुगीता के पाठ के द्वारा सभी प्राणी सब प्रकार की सिद्धि और भोग प्राप्त कर अन्त में मोक्ष को प्राप्त होते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। ।१६४ से १६६ तक।।

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं, धर्मं सांख्यं मयोदितम् ।
गुरुगीता समं नास्ति, सत्यं सत्यं वरानने ।। १६७ ।।

अर्थ— हे वरानने! यह सत्य है, सत्य है कि मेरे द्वारा प्रतिपादित धर्म, सांख्य अर्थात् - ज्ञानयोग भी गुरुगीता के समान नहीं हैं। यह सत्य है , सत्य है, फिर एक बार जोर लगाकर कहता हूँ कि सत्य है ।। १६७ ।।

व्याख्या— इस श्लोक में गुरुगीता की महामहिमा का वर्णन है, धर्म, और ज्ञान योग से बढ़कर इसकी महिमा है और भगवान् शंकर चार बार सत्य है - सत्य है, का प्रयोग करके इसकी महामहिमा का प्रतिपादन कर रहे हैं ।। १६७ ।।

एको देव एक धर्म, एक निष्ठा परंतपः ।
गुरोः परतरं नान्यत्, नास्ति तत्त्वंगुरोःपरम् ।। १६८ ।।

अर्थ— गुरुदेव से बढ़कर कुछ नहीं है, न गुरुदेव से बढ़कर कोई तत्त्व ही है। वही गुरुदेव, एक धर्म हैं, एक निष्ठा हैं, तथा वे ही परं तप भी हैं। वे ही देवता हैं ।। १६८ ।।

व्याख्या— पर से-परतर-स्थिति, परंतत्त्व, धर्म, निष्ठा, तप, देव ये सब, विभूतियाँ गुरुतत्त्व से पृथक नहीं हैं, इन सब का निवास गुरुतत्त्व में हैं। अतः सर्व विभूतिमय शरीर गुरुदेव का माना गया है ।। १६८ ।।

माता धन्या पिता धन्यो, धन्यो वंशः कुलं तथा ।
धन्या च वसुधा देवि, गुरुभक्तिः सुदुर्लभा ।। १६९ ।।

अर्थ— हे देवी! वह माता धन्य है, वह पिता धन्य है, वह वंश धन्य है और वह कुल धन्य हैं एवं वह धरा (पृथ्वी) धन्य है, जिसमें सुदुर्लभा गुरु भक्तियुक्त मानव रहते हैं ।। १६९ ।।

व्याख्या— जिस मानव में गुरुभक्ति आ जाती है, वह मानव अपने से सम्बन्ध रखने वाले सब सम्बन्धों को माता, पिता, वंश, कुल, सबको धन्य-अर्थात् कृतार्थ कर देता है, और तो ठीक है पूरी धरा उस गुरु भक्त को पाकर अपने को धन्य मानती है। गुरु भक्ति की इस महिमा से "**सु-दुर्लभा**" शब्द आया है। गुरु भक्ति सुलभ भी है, दुर्लभ भी है, दुर्लभ इस अर्थ में है कि बिना पूर्व शुभ संस्कार

के सच्चे गुरु का मिलना ही दुर्लभ है और जब गुरुदेव मिल जाते हैं तब वह "**सुलभा**" बन जाती है।। १६९।।

शरीरमिन्द्रिय प्राणश्चार्थः स्वजन बान्धवाः।
माता पिता कुलं देवि, गुरुरेव न संशयः।। १७०।।

अर्थ— हे देवी! शरीर, इन्द्रिय, प्राण, धन, स्वजन, बन्धुगण, माता, पिता, कुल, सब गुरु ही हैं इसमें सन्देह नहीं है।। १७०।।

व्याख्या— यहाँ गुरुदेव को "त्वमेव सर्वं मम देव देव" के सिद्धान्त के अनुसार - सब सम्बन्ध-शरीर की सब इन्द्रियाँ, प्राण, द्रव्य, गुरुदेव को ही समझना चाहिये, इस भावना पर जोर दिया गया है।। १७०।।

आकल्पं जन्मना कोट्या, जप व्रत तपः क्रियाः।
तत्सर्वं सफलं देवि, गुरु सन्तोष मात्रतः।। १७१।।

अर्थ— हे देवी! पूरे कल्प में या करोड़ों जन्म में, किये गये, जप, व्रत, तप आदि क्रियाओं का फल, केवल गुरुदेव की प्रसन्नता से (सन्तोष से) प्राप्त किया जा सकता है। ये सब क्रियायें फलोन्मुखी होकर फलदायिनी बन जाती है।।१७१।।

व्याख्या— गुरुदेव की प्रसन्नता प्राप्त होने पर जप, व्रत, तप आदि कष्ट कर क्रियाओं की आवश्यकता नहीं होती, इन सब का फल गुरु प्रसन्नता से प्राप्त हो जाता है। अतः गुरुदेव को प्रसन्न करने के लिये प्रयत्नशील रहना साधक का कर्तव्य है।। १७१।।

विद्यातपो बलेनैव, मन्दभाग्याश्च ये नराः।
गुरु सेवां न कुर्वन्ति, सत्यं सत्यं वरानने।। १७२।।

अर्थ— हे वरानने! जो मन्द भागी नर, गुरु सेवा नहीं करते, उनके विद्या, तप, बल, सब विफल हो जाते हैं। यह बिल्कुल सत्य है, सत्य है।। १७२।।

व्याख्या— इस श्लोक में गुरु सेवा पर बल दिया गया है। उन्हें मन्द भागी कहा गया है जो गुरु सेवा नहीं करते, उनमें विद्या, तप, बल सब बिना गुरु सेवा के फलदायी नहीं होते। अतः गुरु सेवा में अपनी सम्पूर्ण उपलब्ध शक्तियों को लगाना चाहिये।। १७२।।

ब्रह्म विष्णु महेशाश्च, देवर्षि पितृ किन्नराः।
सिद्ध चारण यक्षाश्च, अन्येऽपि मुनयो जनाः।। १७३।।

गुरु भावः परं तीर्थं, अन्य तीर्थं निरर्थकम् ।
सर्व तीर्थाश्रयं देवि, पादाङ्गुष्ठंच वर्तते ।। १७४ ।।

अर्थ— ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, देवर्षि, पितृगण, किन्नर, सिद्ध चारण, यक्ष, या मुनिगण भी बिना गुरु कृपा के अपने-अपने कर्म में सफल नहीं हो सकते। हे देवी! गुरुभाव ही परम तीर्थ है, दूसरे तीर्थ निरर्थक हैं, सब तीर्थों का आश्रय (निवास स्थान) गुरुददेव के चरणों का "**अंगुष्ठ**" है ।। १७३-१७४ ।।

व्याख्या— यहाँ गुरुदेव के पादाङ्गुष्ठ तथा गुरुकृपा का महत्त्व बतलाया गया है। बिना गुरु कृपा के कोई भी देवगण अपने-अपने कार्य कलापों में सफल नहीं हो सकते। इसी प्रकार गुरुदेव के पादाङ्गुष्ठ में सब तीर्थों का निवास माना गया है। अतः गुरुदेव के पादाङ्गुष्ठ प्रक्षालन के अनन्तर उसे मस्तक पर धारण करने से सब तीर्थों में स्नान का फल मिलता है ।। १७३-१७४ ।।

जपेन जयमाप्नोति, चानन्त फलमाप्नुयात् ।
हीन कर्म त्यजेत्सर्वं, स्थानानि चाधमानि च ।। १७५ ।।

अर्थ— सब हीन कर्मों को छोड़कर, निषिद्ध स्थानों को छोड़ कर (जप करना चाहिये) जप से जय प्राप्त होती है,अनन्त प्रकार के फल प्राप्त होते हैं।।१७५।।

व्याख्या— गुरुगीता के पाठ के समय, स्थान शुद्धि का तथा कर्म शुद्धि का ध्यान अवश्य रखना चाहिये, यहाँ जय का अर्थ है — काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य पर विजय प्राप्त करना, गुरुगीता से, इन शत्रुओं को जीतने में सहायता मिलती है। अनन्त फल का अर्थ है — जिस फल का कभी अन्त न हो। ऐसा फल, और इन्द्रियों के विकारों पर गुरुगीता पाठ से विजय करने की शक्ति प्राप्त होती है ।। १७५ ।।

जपं हीनासनं कुर्वन्, हीन कर्म फल प्रदम् ।
गुरुगीतां प्रयाणे वा, संग्रामे रिपुसंकटे ।। १७६ ।।

जपन् जय माप्नोति, मरणे मुक्ति दायकम् ।
सर्व कर्म च सर्वत्र, गुरु पुत्रस्य सिद्ध्यति ।। १७७ ।।

अर्थ— निषिद्ध आसन पर किया हुवा जप, हीन कर्म फल देता है। मृत्यु के समय, युद्ध में, शत्रु के द्वारा संकट प्राप्त होने पर (गुरुगीता का) जप करने से विजय प्राप्त होती है। मृत्यु के समय जप करने से मुक्ति मिलती है। शिष्य के सब काम, सब स्थानों पर सिद्ध होते हैं ।। १७६-१७७ ।।

व्याख्या— निषिद्ध आसनों के बारे में पूर्व में वर्णन आचुका है, यहाँ फिर से स्मरण दिला रहे हैं कि निषिद्ध आसनों के कारण वाञ्छित फल में रुकावट आती है। अतः आसन शुद्धि का विशेष ध्यान रखना चाहिये।

मृत्यु के समय जैसी विचारधारा होती है वैसा दूसरा जन्म मिलता है, इसलिये हमारे यहाँ मृत्यु की पूर्व अवस्था में सद्ग्रन्थों का पाठ किया जाता है, गुरुगीता उसमें से एक है। गुरुगीता के सुनने से सद्गति प्राप्त होती है।। १७६-१७७।।

इदं रहस्यं नो वाच्यं, तवाग्रे कथितं मया।
सुगोप्यं च प्रयत्नेन, मम त्वं च प्रियात्विति।। १७८।।

अर्थ— (भगवान् शंकर देवी पार्वती से कह रहे हैं कि) तुम्हारे सामने जिस गुरुगीता के रहस्य का हमने वर्णन किया है, उसको हर किसी के सामने प्रकट मत करना और गोपनीय (छिपाकर) रखना। हमने तुम्हारे सामने इस रहस्य का वर्णन इस लिये किया है कि तुम हमारी अर्धांगिनी हो (प्रिया) हो।। १७८।।

व्याख्या— भारतीय साधना पद्धति में अपनी साधना पद्धति को गुप्त रखने का विधान अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। भाव यह है कि, अनधिकारी के समक्ष साधना के रहस्य को प्रकट करने से, वह हास्य-विनोद का विषय बन जाता है। अतः अधिकारी, जिज्ञासू के समक्ष ही इस रहस्य को प्रकट करना चाहिये।। १७८।।

स्वामीमुख्य गणेशादि, विष्णवादिनां च पार्वति।
मनसापि न वक्तव्यं, सत्यं सत्यं वदाम्यहम्।। १७९।।

अर्थ— यह मैं सत्य-सत्य कहता हूँ कि कार्तिकेयादिमुख्य (तुम्हारे पुत्र) गणेश, विष्णु, आदि देवताओं को भी, मन से भी इस रहस्य को मत कहना (यदि उनमें श्रद्धा न हो तो)।। १७९।।

व्याख्या— यहाँ यह भाव प्रकट किया गया है कि यदि स्वामी कार्तिकेय, गणेश, ब्रह्मा, विष्णु भी गुरुतत्त्व पर निष्ठा नहीं रखते हों, तो वे भी गुरुगीता के उपदेश के अनधिकारी ही माने जावेंगे।। १७९।।

अतीव पक्व चित्ताय, श्रद्धाभक्ति युताय च।
प्रवक्तव्यमिदं देवि, ममात्माऽसि सदाप्रिये।। १८०।।

अर्थ— जिनका चित्त पूर्ण परिपक्व हो गया हो, उनको तथा जिनमें श्रद्धा भक्ति हो, उन्हें ही इस गुरुगीता रूपी रहस्य का उपदेश करना चाहिये।

तुम्हें तो यह उपदेश इसलिये दिया है कि तुम हमारी आत्मा हो और पत्नी भी हो, सदा प्रिय हो ।। १८० ।।

व्याख्या— उक्त श्लोक का आशय बहुत गूढ़ और साधन मार्ग के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गुरुगीता उपदेश के लिये दो प्रकार की पात्राता का यहाँ वर्णन है — एक तो "**परिपक्व चित्तता**" दूसरी "**श्रद्धाभक्ति युक्त मनःस्थिति**"

जब तक चित्त चंचल है, विषयों के प्रति आकर्षण है, काम, क्रोध के संस्कार संचित है, तब तक चित्त स्थिर, शान्त और परिपक्व नहीं माना जाता।

ज्ञान प्राप्ति और चित्त की परिपक्वता के लिये उपरोक्त विकारों को हटाना होगा।

श्रद्धा, भक्ति के बिना ज्ञान ग्रहण की भूमिका तैय्यार नहीं होती। अतः मन को श्रद्धा भक्ति सम्पन्न बनाना चाहिये।

सबसे बड़ी ज्ञान ग्रहण की एक भूमिका और है वह है उपदेशक से "**एकात्मकता**"। यहाँ भगवान् शंकर पार्वती देवी को अपनी आत्मा करके सम्बोधन कर रहे हैं, इससे यह अर्थ निकलता है कि जब तक गुरु शिष्य में एकात्मकता का सम्बन्ध नहीं होगा तब तक ज्ञान पचेगा नहीं। एकात्मकता-आती है पूर्णशरणागति से (प्रपन्नता से) समर्पण से श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में, जब तक अर्जुन यह नहीं कहता कि "**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**" मैं-आपका शिष्य हूँ, आपकी शरणागत हूँ, आप मुझे मार्गदर्शन दें। तब तक भगवान् उपदेश नहीं करते। अतः शरणागति और पूर्णसमर्पण आवश्यक है। गुरुगीता के प्रारम्भ में भगवती पार्वती भगवान् शंकर से कहती हैं कि "**त्वं कृपां कुरु मे स्वामिन् नमामि चरणौतव**" यह शरणागति का ही स्वरूप है।

समर्पण हृदय से होना चाहिये, मौखिक समर्पण से ज्ञान नहीं मिलता है। आजकल मौखिक समर्पण अधिक चल गया है, इसीकारण उपदेश-या-ज्ञान शिष्य को पूरी तरह प्राप्त नहीं होता ।। १८० ।।

अभक्ते वंचके धूर्ते, पाखण्डे नास्तिके नरे ।
मनसापि न वक्तव्या, गुरुगीता कदाचन ।। १८१ ।।

अर्थ— जो भक्त नहीं है, चालाक है, धूर्त है, पाखण्डी है, नास्तिक है, इनको गुरुगीता का उपदेश नहीं करना चाहिये, मन से भी इनको उपदेश देने का विचार नहीं करना चाहिये ।। १८१ ।।

व्याख्या— यहाँ, "गुरुगीता" उपदेश के जो पात्र नहीं है उनकी चर्चा है।

जो भक्त नहीं है, जिसने अपना जीवन भक्तिमय नहीं बनाया है,जो चालाक, धूर्त, पाखण्डी है, चालाकी. धूर्तता और दिखावा-दम्भ ये दुर्गुण जिनमें हो वे भी गुरुगीता उपदेश के पात्र नहीं हैं।

इनको मन से भी उपदेश देने का विचार नहीं करना चाहिये।। १८१।।

संसार सागर समुद्धरणैक मंत्रम्।
ब्रह्मादि देव मुनि पूजित सिद्ध मंत्रम्।।
दारिद्रय दुःख भय शोक विनाश मंत्रम्।
वन्दे महा भय हरं गुरु राज मंत्रम्।। १८२।।

ॐ "वन्दे महा भय हरं गुरु राज मंत्रम्।। ॐ

ॐ नमः इति —

अर्थ— गुरु राज मंत्र रूपी गुरुगीता — संसार सागर रूपी समुद्र से उद्धार करने वाला मंत्र है। ब्रह्मादि देव एवं मुनिगणों के द्वारा सिद्ध किया हुवा मंत्र और दरिद्रता, दुःख, भय, शोक इनको दूर करने वाला मंत्र है। अतः महाभय को दूर करने वाले इस गुरुराज मंत्र को प्रणाम है। समाप्ति पर अन्तिम पंक्ति को एक बार और दुहराने का नियम है। ॐ नमः इति कह कर समाप्त करना चाहिये।

व्याख्या— इस अन्तिम श्लोक में सम्पूर्ण, गुरुगीता की महिमा का निचोड़ है।

मंत्र जो होता है, वह कोई अक्षरों का समूह नहीं होता। उन-उन-मंत्रों में उन-उन-देवताओं की शक्ति का निवास होता है, शक्ति के कारण ही मंत्र चेतन व प्रभावी होते हैं। पूरी "**गुरुगीता-गुरु राज मंत्र है**" गुरुतत्त्व का मूर्तिमान् स्वरूप है। इसकी महिमा जो ऊपर अर्थ में बताई गई है, वह बिल्कुल सत्य है - सत्य है।। १८२।।

इति श्री स्कन्द पुराणे उत्तरखण्डे ईश्वर पार्वती
संवादे — गुरुगीता — समाप्ता
श्री गुरुदेव चरणार्पणमस्तु।
हरिः ॐ तत्सत् — हरिः ॐ तत्सत् — हरिः ॐ तत्सत्

—अथ—

श्री गुरु पादुका पंचकम्

ॐ नमो गुरुभ्यो गुरु पादुकाभ्यो ।
नमः परेभ्यः पर पादुकाभ्यः ।।
आचार्य सिद्धेश्वर पादुकाभ्यो ।
नमो नमः श्री गुरु पादुकाभ्यः ।। १ ।।

अर्थ— श्री गुरुदेव को प्रणाम है। गुरु पादुकाओं को प्रणाम है। सबसे परे गुरुदेव को प्रणाम है। सबसे परे गुरु पादुकाओं को प्रणाम है। जो आचार्य भी हैं, सिद्धियों के ईश्वर भी है, उनको प्रणाम है, उनकी पादुकाओं को प्रणाम है। अन्त में गुरुपादुकाओं को बार-बार नमन है।

ऐंकार ह्रींकार रहस्य युक्ता ।
श्रींकार गूढार्थ महा विभूत्या ।
ॐकार मर्म प्रतिपादिनिभ्यां ।
नमो नमः श्री गुरु पादुकाभ्याम् ।। २ ।।

अर्थ— ऐंकार-ह्रीं-कार के रहस्य से युक्त अर्थात् **ऐं-** बीज मंत्र वाणी का अधिष्ठाता तथा सृष्टिरूप माना गया है **ह्रीं-** बीज मंत्र माया का अधिष्ठाता, (प्रतिपालिका शक्ति का द्योतक है) इन दोनों बीज मंत्र शक्ति के रहस्य से युक्त एवं — श्रींकार — महा विभूति-के गूढ़ार्थ से समन्वित, (**श्रीं-** बीजाक्षर का अर्थ होता है, बुद्धि और ऐश्वर्य की महा विभूति के गूढ़ार्थ से भरा हुवा) एवं ओंकार के मर्म का प्रतिपादन करने वाली, श्री गुरु पादुकाओं को बार-बार प्रणाम है ।। २ ।।

होत्राग्नि हौत्राग्नि हविष्य होतृ ।
होमादि सर्वाकृति भासमानम् ।।
यद् ब्रह्म तद्बोध वितरिणीभ्याम् ।
नमो नमः श्रीगुरुपादुकाभ्याम् ।। ३ ।।

अर्थ— होत्राग्नि (ब्रह्मशक्ति का यज्ञाग्नि रूप), हौत्राग्नि (यज्ञ करने वाले ऋत्विक् के भीतर जो ज्ञानाग्नि (चेतन शक्ति है, वह) और हविष्य (हवन सामग्री में जिस पर ब्रह्म शक्ति का निवास है, वह) होतृ-अर्थात्-यजमान (यजमान में जो चेतना शक्ति है, वह) और यज्ञ मण्डप की साज सज्जा के रूप में जो ब्रह्म शक्ति का स्वरुप दिखाई देता है, वह) इस प्रकार के यज्ञों के आयोजन में जिस ब्रह्म का बोध होता है उस बोध को वितरण करने वाली गुरु पादुकाओं को बार-बार प्रणाम हैं ।। ३ ।।

कामादि सर्प व्रज गारुडाभ्याम्
विवेक वैराग्य निधि प्रदाभ्याम् ।
बोधः प्रदाभ्यां द्रुत मोक्षदाभ्याम्
नमो नमः श्री गुरु पादुकाभ्याम् ।। ४ ।।

अर्थ— काम, क्रोध, लोभ, मोहादि सर्व समूह के लिये जो गारुड़ी विद्या (विष निवारिणी विद्या) के समान है, विवेक, वैराग्य रूपी निधि को देने वाली हैं, जो सब प्रकार के ज्ञान का बोध कराने वाली है। जो शीघ्र मोक्ष दायिनी है, ऐसी गुरुपादुकाओं को प्रणाम है ।। ४ ।।

अनन्त संसार समुद्र तारा ।
नौकायिताभ्यां स्थिर भक्तिदाभ्याम् ।।
जाड्याब्धि संशोषण वाड्वाभ्याम् ।
नमो नमः श्री गुरु पादुकाभ्याम् ।। ५ ।।

अर्थ— अनन्त संसार सागर को पार करने के लिये, जो नौका के समान है, जो, अविचल भक्ति प्रदान करने वाली हैं, जो जड़ता (अज्ञान) रूपी समुद्र को सूखाने वाली वड़वानल अग्नि है, ऐसी उन गुरु पादुकाओं को प्रणाम है ।। ५ ।।

इति श्री गुरु पादुका पंचकम्

— समाप्तम् —

देवात्म शक्ति सोसायटी

९२-९६, नवाली गाँव, पोष्ट-दहिसर (व्हाया-मुंब्रा) मुंब्रा पनवेल मार्ग पर,
जि. ठाणे, पिन - ४०० ६१२, महाराष्ट्र राज्य, (भारत).

आध्यात्म जिज्ञासुओं एवं मुमुक्षुओं के लिए अनिवार्य तथा अत्यावश्यक पुस्तकें

१) देवात्म शक्ति (Divine Power) रु. २०/-
२) सौन्दर्य लहरी रु. २५/-
३) शक्तिपात (हिन्दी/गुजराती) रु. ७/-
४) शिव सूत्र-प्रबोधीनी रु. ५/-
५) साधन-सङ्केत (हिन्दी, गुजराती) रु. १२/-
६) आत्म-प्रबोध भाग-१ रु. ५/-
७) आत्म-प्रबोध भाग-२ रु. ७/-
८) अध्यात्म विकास रु. ८/-
९) वैदिक योग-परिचय रु. १०/-
१०) प्राण तत्व रु. ५/-
११) उपनिषद्-वाणी रु. २०/-
१२) प्रत्यभिज्ञा-हृदयम् रु. ३/-
१३) गीता-तत्वामृत् रु. २०/-
१४) साधन पथ रु. ५/-
१५) श्री नारायण उपदेशामृत् रु. ८/-
१६) पातञ्जल योग-दर्शन रु. ६/-
१७) गुरु परम्परा रु. ५/-
१८) योग विभूति रु. ८/-
१९) सौभाग्योदयम् रु. १०/-
२०) साधन-सम्पदा रु. ६/-
२१) षट्चक्र-निरुपण रु. ५/-
२२) शक्तिपात पथ-प्रदर्शिका भाग-१ रु. २५/-
(हिन्दी, मराठी, गुजराती, तेलगु एवं अंग्रेजी भाषा में उपलब्ध)
२३) शक्तिपात पथ-प्रदर्शिका भाग-२ रु. २०/-
(अथवा कुण्डलिनी सिद्ध महायोग)
२४) शक्तिपात पथ-प्रदर्शिका भाग-३ रु. २०/-
(अथवा आह्लादिनी सिद्ध महायोग)
२५) योगेन्द्र-चरित रु. १०/-
२६) महायोग विज्ञान रु. २०/-
२७) श्री गुरुस्तवन् रु. १०/-
२८) साधना-डायरी रु. १५/-

Prices are subject to change. Postage will be charged extra.
Book sellers can ask for special discount on bulk purchases. All payments in advance.

For Details write to

Devatma Shakti Society
92-96, Nawali Village, P.O. Dahisar, Via Mumbra, Dist. Thane 400 612 (Maharashtra State)

Swami Shivom Tirth Ashram
Mukherji Nagar, Raisen 464 551 (MP)

Narayan Kuti
Sanyas Ashram, Dewas 455 001 (MP)

Swami Shivom Tirth Ashram
39, Edgemere Drive Searing Town, Long Island, New York 11507 (USA)

Yogashree Peeth Ashram
Shivanandnagar, P.O. Muni Ki-Reti Rishikesh 249 192 (UP)

शक्तिपात संबधी

अधिक जानकारी हेतु निम्नलिखित पत्तों पर लिखें अथवा मिलें।

देवात्म शक्ति सोसायटी

९२-९६, नवाली गाँव,
पोष्ट-दहिसर (व्हाया-मुंब्रा)
मुंब्रा पनवेल मार्ग पर, जि. ठाणे,
पिन - ४०० ६१२, महाराष्ट्र राज्य, (भारत).

'नारायण कुटी'

संन्यास आश्रम
देवास-४५५००१
(मध्य प्रदेश)

योग श्री पीठ

मुनी की रेती,
ऋषिकेश (हिमालय)
(उ.प्र.) पिन २४९१९२

स्वामी शिवोम्तीर्थ आश्रम

मुकर्जी नगर
रायसेन-४६४५५१
(मध्य प्रदेश)

देवात्म शक्ति सोसायटी (आश्रम)

९२-९६, नवाली गाँव, पोस्ट दहिसर (व्हाया मुम्ब्रा)
जिला ठाणे - ४०० ६१२ (महाराष्ट्र)
दूरभाष - ०२२-५६१४८१८३ / ०२२-२७८७९६४२

इस संस्थाकी स्थापना बम्बई में १९८४ में हुई। १९८५ में संस्थाने उपरोक्त पतेपर कुछ जमीन और एक मकान खरीदकर आश्रम की विधिवत् स्थापना की। संस्थाका उद्देश्य आजसे कोई एक सौ वर्ष पूर्व विद्यमान् बंगला देश निवासी, स्वामी नारायण तीर्थ देव महाराज प्रणीत शक्तिपात साधना प्रणाली का प्रचार एवं प्रसार करना है। संस्था, नारायण कुटी, देवास, मध्य प्रदेश के संस्थापक ब्रह्मलीन स्वामी विष्णुतीर्थजी महाराज तथा उनके वर्तमान अधिकारी प.पू. स्वामी शिवोम् तीर्थजी महाराज से प्रेरणा प्राप्त करती है ।

आश्रम निर्माण के अतिरिक्त, संस्था शक्तिपात संबधी साहित्य भी प्रकाशित करती है । शक्तिपात पथ प्रदर्शिका भाग १,२,३ अब तक प्रकाशित हो चूके है। एवं भाग १ का इंग्लीश तथा मराठी अनुवाद भी प्रकाशित कर उपलब्ध कराया जा चुका है। अधिकारी, शक्तिपात दीक्षाके योग्य, साधकोंको स्वामी शिवोम् तीर्थजी महाराज की स्वीकृति पर दीक्षाकी व्यवस्था की जाती है। संस्था कुछ जनोपयोगी कार्य करनेका भी प्रयत्न करती है। जैसे चिकिस्ता शिविरोंकी व्यवस्था करना इत्यादी।

सन् १९८८-१९८९ में संस्था ने एक बड़ा सभागृह, रसोई घर, श्री गुरूदेव की निवास-कुटी तथा किचन रूम आदि बना चुके हैं। भविष्य में साधना-कक्ष, पुस्तकालय, दवाखाना, मंदिर एवं कुछ कमरों का निर्माण सम्मिलित है।

आप सबसे संरक्षण, सेवा एवं सहयोग अपेक्षित है।

८/८८ अे कल्पतरू
घाटला विलेज मार्ग
चेम्बूर, मुम्बई-४०० ०७७.
फोन : २५२१०६९१

टी कालिदास
अध्यक्ष, देवात्म शक्ति सोसायटी
मुम्बई